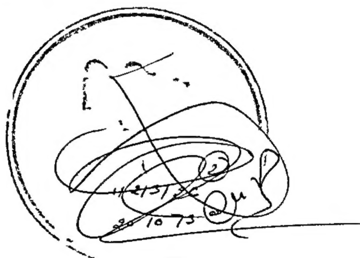
एकान्त

नेमिचंद्र जैन





भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : ३४७

सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण : जुलाई १९७३
मूल्य : दस रुपये



एकान्त
(कविता संग्रह)
नेमिचंद्र जैन

आवरण
जतीन दास

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७, कनाट प्लेस,
नयी दिल्ली-११०००१

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००५

Price : Rs 10.00

EKAANT : POEMS : NEMICHANDRA JAIN

गजानन मुक्तिबोध की स्मृति के लिए

क्रम

भूमिका

आखिरकार मेरा यह कविता-संग्रह प्रकाशित हो रहा है। यह जैसा भी है, इस के बारे में अपनी तरफ से और कुछ कहना कोई खास मानी नही रखता। बल्कि कई बार तो कवि का अपने संग्रह को भूमिका लिखना निहायत गैर-ज़रूरी और गलत हो जाता है, क्योंकि अक्सर उस के कारण पढने वालो का ध्यान कविता से अधिक कवि के वक्तव्य में उलझने लगता है। फिर भी कई कारणों से इस संग्रह के बारे में कुछ *बातें कहना अनिवार्य हो गया है।*

एक तो यही कि आज के अधिकांश पाठको को इस के पुराने और शायद इसी लिए बेमानी लगने की सम्भावना के बावजूद, मैं ने इसे छपाने का ही फैसला किया, क्योंकि अन्तत इस नियति से बचना बहुत युक्ति-संगत नहीं लगा। पहले प्रकाशित होने पर भी इस का यही हश्र हो सकता था। किसी भी प्रकार की रचना के माध्यम से अपने-आप को समझने की कोशिश में यह खतरा जरूरी तौर पर सदा ही मौजूद रहता है।

दूसरे, *लगभग पैंतीस-चालीस साल के कवि-जीवन में यह पहला* संग्रह होने के कारण, इस में १९३७ से ले कर १९६७ तक की, प्राय तीस वर्ष के बीच लिखी गयी कविताएँ एक साथ प्रस्तुत हैं। इन म से कुछ 'तारसप्तक' के मूल और फिर दूसरे संस्करण मे छप चुकी हैं। उन्हें यहां फिर से शामिल करने और छोड देने—दोनो में ही धर्मसंकट था। अन्त में यही तै पाया कि किसी अन्य स्वतन्त्र संग्रह में ये प्रकाशित नही हुई है, इस-लिए यहाँ इन्हें शामिल करना बहुत बडी ज्यादती शायद न समझा जाये।

इतने लम्बे दौर की कविताएँ एक साथ रखने मे यो भी कई जाहिर कठिनाइयाँ हैं। उन म एक साथ ही कवि और कविता की इतनी सारी बदलती हुई स्थितियाँ सिमट आना स्वाभाविक है कि एक ओर वे एक दूसरे को असगत कर दें, और दूसरी ओर किसी भी दौर की संवेदना के निकट होने वाले पाठक के लिए अजनबी रह जायें। एक तरह से यह *संकट इतने दिनों बाद इन कविताओ को छपाने में निहित ही है।* फिर *भी कवि के मन में अमूमन यह अहसास बना रहता है कि चाहे जितनी* देर से सही, कुछ लोग ऐसे जरूर होगे जिन्हें ये कविताएँ पूरी तरह अजनबी नही लगेंगी। बहरहाल, और कुछ नही तो एक दौर का रिकार्ड दुरुस्त कर देने के खयाल से ही शायद इन कविताओ की कुछ प्रासंगिकता जरूर होगी। इसी लिए इन्हें तारीखवार क्रम में रखा गया है जो

कविताएँ प्रस्तुत करने का बहुत उपयुक्त ढंग नही है। मगर लगा कि इस तरह शायद इन का अपने सन्दर्भ में देखा जाना अधिक सम्भव हो।

इस संग्रह की कई एक कविताओं में ऐसी कुछ वैयक्तिक अथवा बाहरी सन्दर्भों की अनुगूँजें हैं जो शायद पकड़ में न आयें। जैसे 'छब्बीस जनवरी' के स्वाधीनता आन्दोलन के फ़ासिज़्म-विरोधी दौर में लिखे जाने का हवाला मैं ने उस कविता के साथ ही दिया है। पर 'कट न जायें डोरियाँ विश्वास की' और 'शिखर' की पृष्ठभूमि कम्युनिस्ट नेता पूरनचन्द्र जोशी के साथ पार्टी में होने वाला दुर्व्यवहार है। 'पत्र' स्वर्गीय गजानन मुक्तिबोध का एक पत्र पाने पर लिखी गयी थी। इन कविताओं की अच्छाई-बुराई का इन सन्दर्भों से कोई सम्बन्ध नही और न यह जानकारी इन्हें पढने के लिए जरूरी ही है। फिर भी शायद इस से इन की एक और प्रासंगिकता उजागर हो सकती है।

जाहिर है, ये मेरी सारी कविताएँ नही हैं। पर एक तरह से, शुरू के दौर को छोड कर, अधिकाश वे कविताएँ इस सग्रह में आ गयी हैं जो मुझे किसी हद तक प्रकाशनीय लगी। असम्भव नही कि यह प्रकाशन कुछ और भी लिखे जाने तथा कुछ पहले ही लिखे गये को प्रासंगिक बनाने में सहायक सिद्ध हो। जो हो, ये कविताएँ अब आप के सामने हैं और मैं इन के बारे में प्रत्याशित-अप्रत्याशित हर प्रकार की प्रतिक्रिया के लिए खुले मन से बेझिझक तैयार हूँ।

इस संग्रह के प्रकाशन के सन्दर्भ में बन्धुवर शमशेर के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करना मैं बहुत जरूरी समझता हूँ। दरअसल, अन्य कई स्नेही मित्रो के अलावा, वे खास तौर पर अकसर मुझे ये कविताएँ प्रकाशित करने के लिए उकसाते रहे हैं। प्रेस के लिए पाण्डुलिपि तैयार करते समय जब फिर एक बार मन मे कुछ शंका हुई तो उन्होंने इन्हें प्रकाशित करने के लिए तो जोर दिया ही, इन के चुनाव में भी मदद की। बेशक, यह उन की सहज स्नेहशीलता और उदार अभिरुचि के कारण ही होता रहा है। मगर इस से उन के आश्वासन और उस से मिलने वाले साहस का मूल्य कम नही हो जाता। अन्त मे, सब से अधिक आभार तो श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का है जिन्होंने इन्हें भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित करना स्वीकार किया।

नयी दिल्ली।
२६ अक्तूबर, १९७२

नेमिचंद्र जैन

एकान्त

धूल भरी दोपहरी

धूल भरी दोपहरी
धरती के कण-कण में गूँजी आकुल-सी स्वर-लहरी।

सरल पल आते-जाते
करुण सिकता भर लाते
एक मूर्च्छना-सी प्राणों पर वेमाने वरसाते
अलसता होती गहरी।

मधुर अनमनी उदासी
एक धूमिल रेखा-सी—
छायी है ; वहता जाता है पवन अरुक संन्यासी
कौन देश की ठहरी ?
आ कर यों चल दिये कहाँ ओ जग के चंचल प्रहरी ?
धूल भरी दोपहरी।

वरुआसागर
१९३७

अकेला

उड़ चला अकेला,
तोड़ प्रीति-बन्ध विहग उड़ चला अकेला।
भूले सब स्नेह-गान,
छोड़ा तरु-तीर मोह,
उड़ा विकल खग अजान श्वेत पंख फैला।
आशा विश्वास धीर
भर कर मन में अकूल,
बिसरा पथ-प्यार-पीर,
उड़ता जाता अधीर कहीं इस अबेला।

आगरा
१९३७

क्या भाया ?

क्या भाया ?
अनजाने मन क्यों इस कोलाहल में खिंच कर वह आया ?
वे वन की सन्ध्याएँ निर्जन
मदिर-अरुण पीली
भोली सी नीली
सूना निर्झर-तीर,
वहीं से मौलसिरी का परिमल उन्मन
लाया सिहराता समीर—
भर लाया ।
नन्हीं चिड़ियों का कलरव सुन
पूछ-पूछ उठता था तव मन
क्या गाया—
भोली चिड़ियों ने क्या गाया ?
ये उलझे आवरण यहाँ के
बन्धन की काया
झूठी जीवन की परिभाषा
रीते-से आडम्बर की ओछी-सी अभिलाषा—
इस कोलाहल के अचल में आ कर क्या पाया ?
क्या पाया ?
क्यों मन खिंच कर वह आया ?

प्रयाग
१९३७

अनजाने चुपचाप

अनजाने चुपचाप अधखुले वातायन से
आती हुई जुन्हाई-सा ही
तेरी छवि का सुधि-सम्मोहन
आज बिखर कर सिमिट चला है मेरे मन मे।
छलक उठा है उर का सागर
किसी एक अज्ञात ज्वार से
किन सपनो के मदिर भार से
किन किरनो के परस-प्यार से
पल भर मे यो आज अचानक।
यह किस रूप-परी विरहिन के उर की पीडा
मेरे जी मे भी चुपके से तिर आयी है
यो अनजाने ?
गूँज उठा है अन्तर-जीवन
किस फेनिल अरुणाभ राग से ?
किन फूलो के मधु पराग से
पुलकित हो आया है
आकुल मधु-समीर ?
जी के इस कानन मे भी फूली है सरसो,
इस वन का भी कोना-कोना
है भर उठा अकथ छलकन से,
प्राणो के कन-कन से
झरता मौलसिरी के फूलो-सा
अम्लान स्नेह।
तुम हो मुझ से दूर कही पर
यौवन के प्रभात में विकसित

डाली पर झुक-झुक
बल खाती
सहज सरल निज क्रीड़ा में रत
युन्द कली-सी।
यह मधुमास सजीला चुप-चुप
तेरे उर के आँगन को
गीला कर-कर जाता होगा री,
परिमल के मिठास से भाराकुल
यह वासन्ती बयार
उलझ-उलझ कर खोल-खोल देती होगी
वह तेरा कच-संभार सुरभिमय।
कुछ अनमनी उदासी से तुम
सहज भाव से
अपने विकच लोचनों के ऊपर से—
वे लोचन जिन में प्रति पल में
छलक-छलक आती है बरबस
छनी हुई करुणार्द्र मधुरिमा
जिन मे हो कर सुमुखि,
तुम्हारे सहज स्नेह का सब गीलापन
बिखर-बिखर आता है—
बिस रजनीगन्धा के मद से सदा लबालब
भरे हुए उन चंचल नैनों के ऊपर से
हटा-हटा देती होगी वे बेरा हठीले।
यह चाँदनी निहार अचानक
उन अनार की अविकच कलियों-से होठों से
तभी तुम्हारे मन का सब अनजाना प्यार लजीला
बह-बह आता होगा
स्वर-धारा में।
पवन-गुंजरण से भी कोमल, अति कोमल
वाणी का स्वर वह
गूँज-गूँज उठता होगा
अग-जग मे।

मैं एकाकी,
मेरे आगे टेढ़ा-मेढ़ा बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाकी।
बिना तुम्हारे
इस बसन्त रजनी की दूध भरी छाया में
चला जा रहा हूँ मैं पग-पग
बिना विचारे, बिना सहारे।
यह मदिरा-सी तरल जुन्हाई—
किसी रूपसी सुरबाला के तन की आभा-सी जो छायी—
भर जाती है मेरे मन में
तेरी छवि का सुधि-सम्मोहन,
और प्यार से
पिघल-पिघल कर
मेरा दुख हो आता पानी।

आगरा
१९३९

आगे गहन अँधेरा है

आगे गहन अँधेरा है, मन रुक-रुक जाता है एकाकी
अब भी है टूटे प्राणो मे किस छवि का आकर्षण बाकी
चाह रहा है अब भी यह पापी दिल पीछे को मुड जाना
एक बार फिर से दो नैनो के नीलम नभ मे उड जाना
मन मे गूँज रहे हैं अब भी वे पिछले स्वर सम्मोहन के
अनजाने ही खीच रहे हैं धागे भूले-से बन्धन के
किन्तु अँधेरा है यह, मैं हूँ, मुझ को तो है आगे जाना
जाना ही है—पहन लिया है मैं ने मुसाफिरी का बाना
आज मार्ग मे मेरे अटक न जाओ यों ओ सुधि की छलना
मैं निस्सीम डगर का राही मुझ को सदा अकेले चलना
इस दुर्भेद्य अँधेरे के उस पार बसा है मन का आलम
रुक न जाय सुधि के बाँधो से प्राणो की यमुना का सगम
खो न जाय द्रुत से द्रुततर बहते रहने की साध निरन्तर
मेरे-उस के बीच कही रुकने से बढ न जाय यह अन्तर।

बरुआसागर
१९४०

कवि गाता है

कवि गाता है—
सक्रान्ति काल का कलाकार कवि गाता है।
देख चाँदनी रातें कवि का नाच उठा उर
स्वप्न-देश की परियों के गायन से
उस का गूँज उठा स्वर,
आधी मुँदी हुई पलकों मे
मदिरा-सा किस छवि का मीठा भार लिये,
वह बेसुध-सा है;
उस के नयनो मे झूल रही किस रूपपरी की सघन याद
उस के मन मे कितनी पीडा, उस के मन मे कितना विषाद!
और तभी वह गा उठता है
गीले गाने,
असफलता के, प्यार-प्रीति के, अपने दुख के—
कुछ बेमाने, कुछ अनजाने।
फूट उठा है उस का उर
वह गाता है,
संक्रान्ति काल का
पीड़ित मानवता के युग का कलाकार कवि—
गाता है।

कभी यहाँ आते है कोई बडे राज्य के राजा साहब
कितने दानी!
कभी प्रान्त के आते हैं सरकारी अफसर,
या कोई जनता के लीडर

जो होते हैं सभी कला-कविता के प्रेमी—
कितने ज्ञानी !
उन सब के स्वागत मे
जब-तब
किसी सेठ के घर होती ही रहती है
दावत-मेहमानी ।
कवि भी आमन्त्रित होता है,
वह भी आये,
राजा साहब, अफसर, या जनता के लीडर—
(या वह जो हो !)—
के स्वागत मे गीत बना कर लाये, गाये,
और काव्य के चमत्कार से मेहमानो का दिल बहलाये ।
आमन्त्रण की गुरुता से ही
सहज गर्व से
फूल-फूल उठती है तब उस कवि की छाती—
गद्गद हो कर गा उठता है कवि
तब राजा और सेठ की स्तुति के गायन ।
गाता है वह कलाकार
जब बाहर दुनिया मे फैली घनघोर विषमता,
दिशि दिशि से उठ रहा भयानक चीत्कार
उस को तो है बस अपने सपनो से ममता—
वह कलाकार ।
क्या परवा उस को,
एक ओर भूखे मरते लाखो प्राणी
वह दिव्य-दृष्टि से देख रहा उस की तो युग-युग की वाणी
उस के स्वर मे है बोल रही देवी सरस्वती कल्याणी ।

कवि द्रष्टा है
जीवन के पीछे छिपे हुए अज्ञात तत्त्व का ।
मानवता के अमर चिरन्तन नियमो का
कवि स्रष्टा है ।

वह क्यों गाये
इस वर्तमान के
अति कुत्सित वीभत्स अँधेरे के
जडता के,
काले-काले क्रुद्ध गीत
जब देख रहे उस के अधमूँदे नयन
क्षितिज के पार, दूर,
गरिमा के गौरव से मण्डित स्वर्णिम अतीत ।

वह गाता है—
षोडशवर्षीया सुकुमारी
बडे-बडे महलो मे रहने वाली सुन्दर राजकुमारी
की प्रशस्ति मे—
(राजमहल वे
जिन की गहरी नीवो पर बलिदान हो गये
भूखे नरककाल अस्थिपजर जैसे लाखो मजूर,
जिन के गरम रक्त से सिंचित
राजमहल यो छाती ताने आज खडे हैं।)
रूप और वैभव की मदिरा मे विभोर
कवि गाता है
अतृप्त यौवन के, लिप्सा के
गीले-गीले गलित गीत ।
मृत्युशीत !

कवि गाता है
वह कलाकार है ।
व्याकुल मानवता की सस्कृति की रक्षा का
उस के ऊपर आज भार है
भूत-भविष्यत्-वर्तमान को
देख रहा वह आर-पार है ।

वह ईश्वर है
वह ज्ञाता है,
दानवता से रौंदे जाते मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है
वह कलाकार जो गाता है,
जो केवल गाता है—!

आगरा
१९४०

अब न तुम गाओ

अब न तुम गाओ सुमुखि, छवि के प्रणय के गान
आज जब चीत्कार से हैं त्रस्त जग के प्राण
छा गये जो विषमता के मेघ अम्बर मे
दैन्य का तम-धूम जो भर गया घर-घर मे
हो रहा जग से विभा का लोक अन्तर्धान
घुमडते हैं वे उधर बाहर ववण्डर-से
कल्पना के महल सब हो चले खँडहर-से
किन्तु अब भी कर रही तुम नयन-शर-सन्धान
वह उधर रुँध गये हैं सब कण्ठ जन-जन के
तुम इधर गाती अभी तक गीत साजन के
पहन कर अपना बसन्ती स्वप्न-सा परिधान
अब न यों मन को हवा के साथ बहने दो
आज अपने रूप का आह्वान रहने दो
उठ रहा है हृदय मे विक्षुब्ध-सा तूफान
मत भरो सखि, आज अपने मोह का प्याला
आज जलनी चाहिए विद्रोह की ज्वाला
आज होने दो तनिक उत्सर्ग का सामान
चुक रहे हैं प्यार के अरमान अब सारे
दीखते हैं सामने सब ओर अगारे
हम सिपाही हो हमे बलिदान का वरदान
कण्टको का मार्ग पर अविराम चलना है
एक ही विश्वास से चुपचाप जलना है
करें हम तुम साथ आओ इस गरल का पान
आज जब चीत्कार से हैं त्रस्त जग के प्राण।

आगरा
१९४१

ज़िन्दगी की राह

यह जिन्दगी की राह
है कब चुकी
चिर विफल मानव के अधूरे-से बने
उन स्वप्नलोको की अरुक यह गीत-लहरी
कब रुकी
है कब चुकी
एक स्वर से एक लय से चल रही है
युगो से जिस के सहारे
त्रस्त मानव के हृदय की धुकधुकी
जो कब चुकी है कब रुकी—?

है निरन्तर ही प्रगति की
एक गति से दौडने की छिपी मन म चाह
मेघमाला से लदे
ऊँचे बरफ के अनुल्लघ्य अगम्य पवत
काँपते तूफान के विक्षोभ से चचल
अछोर तरग-सकुल
सवभक्षी महासागर—
पर्वतो को रौंद जाने
सागरो को लाँघ जाने का प्रबल उत्साह
ऐसी चाह—
यह है जिन्दगी की राह।
यहाँ रुकने का न कुछ अवकाश
मौत से भी तेज गति से चल रहा जीवन जहाँ

तो भी न मंजिल पास
है ऐसा विचित्र प्रवास।
इस निरन्तर भागने से हार कर
रुक भी गये तुम,
तो—
क्या यहाँ तुम इस डगर में
किसी से दो बात कर के कहोगे
अपने हृदय का दर्द ?
प्राण की एकान्त यात्रा में कहीं पल भर अटक कर
जो सुनहली गहन पीडा का मधुर संभार
लाये हो पथिक
आकुल किसी का प्यार
आतुर भीगते-से लोचनों से बरसता जो नेह का संसार
—उसे कह दोगे किसी से ?
और खोलोगे
सरस सुकुमार
अपने व्यथित प्राणों में घुमडती आह ?
यह अचंचल पत्थरों की राह
दूर तक सूनी कँटीले पत्थरो की राह—
वे कठिन पत्थर
तुम्हारी कथा सुन जो
दे सकेंगे
एक ही
बस व्यंग्य की तीखी हँसी का एक ही उपहार।
सुख-दुखों के कल्पना-कोमल खिलौने
वज्र-निर्मम पत्थरों पर पडे
पल में टूट जायेंगे—
नही है इन्हें कुछ परवाह
ऐसा पत्थरो का प्यार
यह है पत्थरो की राह।
यहाँ रुकने का नही अवकाश
मंजिल दूर हो या पास

छलना

यों प्रीत निभाने की निर्मम, यह भी कैसी है रीत नयी
चुपचाप प्रतीक्षा ही मे जो जीवन की वेला बीत गयी
चुक गया नयन का सपना किस चंचल छलना के जादू से
कन-कन कर के ही आशा के फूलों की अंजलि रीत गयी।

थी छलक गयी मन की मदिरा पल में होते ही दृष्टि-परस
आशा के मतरंगे सावन जब पल भर जी मे पड़े बरस
जब जीवन के सूखे मरु मे झर पड़े अचानक बकुल फूल
भर गया नयन की राह अचानक मन में सम्मोहन का रस।

अधखुले हृदय मे अनजाने उस पल बिखरा छवि का दुलार
बस गया प्राण में युग-युग को शरमीली आँखों का खुमार
मंजरित हो गयी सौरभ-श्लथ मेरे अन्तर की अमराई
हो गया व्याप्त परिमल मानो अग-जग मे, मन के आर-पार।

उस पल भर की मस्ती मे मेरा मोहाकुल मन गया भूल
जी डूब गया बेवस हो कर उस छवि की सरिता मे अकूल
प्राणों के बन्धन उस क्षण तो ये टूट गये बरबस नितान्त
पापी उर मे उस बेला तो रजनीगन्धा ही उठी फूल।

पर आज अकेले ही होगा इस भीषण ज्वाला मे जलना
एकाकी ही सूना जी ले लम्बे पथ पर होगा चलना
धीरे-धीरे इन प्राणों की बढ़ती ही जाती है दूरी
मै बेबस आज पराजित हूँ तुम जीत गयी मेरी छलना।

शुजालपुर
१९४१

अपने अन्तर का ख़ालीपन

अपने अन्तर का खालीपन तेरे सुधि-सौरभ से भर लूँ
एकाकी मन पर तेरी छवि धीमे धीमे अंकित कर लूँ
एक सहज ममता की छाया मे मै अपने प्राण बिछा दूँ
तेरे ही आकर्षण मे अपना उद्धत अभिमान सुला दूँ।

यह एकान्त अभेद अँधेरे-सा मन पर घिरता आता है
जी का सब विश्वास अचानक ही मानो गिरता जाता है
घोर विवशता के मरु मे ये भटक पडे हैं प्राण अकेले
आज नही कोई जो मेरे मन की यह दुर्बलता झेले।

शान्त हो गयी है चुप हो कर मन की जो आहत पुकार थी
मन्द हो गयी बुझती जी की ज्वाला वह जो दुर्निवार थी
एक रिक्त बस—प्राणो के इस तरु पर आ छाया है हिम-सा
सुधि का दीप दूर एकाकी होता जाता है मद्धिम-सा।

मेरे अन्तर का रहस्य मुझ को ही आ कर कौन बताये
कौन बिखरते-से प्राणो मे जीवन का जादू भर जाये
मेरे पथदर्शक, खोलूँ कैसे ये उलझी गाँठ मन की
बोलो, कैसे जोड़ूँ बिखरी कड़ियाँ इस खुलते बन्धन की।

शुजालपुर
१९४१

उन्मुक्त

हो गया आज उन्मुक्त विहग पल मे अबन्ध
छुट गये वासना के नाते सब मोह-अन्ध
खुल गये पलक मे ममता के सब नागपाश
कारा-तम के वासी ने देखा उषा-हास
उड चला गगन मे अपने आतुर पख खोल
भर गयी मुक्ति मन मे कुछ वह मस्ती अमोल
उद्दाम वेग से उडा चला मानो अशान्त—
हो नभ की सीमा ही छू लेने को नितान्त
उड जायेगा मानो अग-जग के आर-पार
उस के अन्तर मे आया है वह रक्त-ज्वार
है आज न उस के प्राणो को कोई विराम
वह छोड चला रुकने के सारे सरजाम
उस के आगे क्या ठहरेगा कोई विरोध
हो गया उसे अपनी क्षमता का पूर्ण बोध
चिर दिन से बन्दी आकुल-सा कोई प्रवाह
पा जाय अचानक ही अपनी अवरुद्ध राह
उस के आगे तब ठहर सका है कौन कूल—
जब हो पडती है प्राणो की गगा अकूल ?
वह आज चीर देगा अम्बर का उर अनन्त
युग-युग की जडता का कर देगा आज अन्त
वैषम्य शृखलाएँ होगी सब चूर-चूर
उग रही स्वर्ण-रेखाएँ समता की सुदूर
वह आज मिटा देगा जीवन से वृथा दम्भ
होगा उस पल मे ही नवयुग का समारम्भ ।

डूबती सन्ध्या

डूबती निस्तब्ध सन्ध्या
ग्रीष्म की तपती दुपहरी प्रबल झझावात के पश्चात्
शान्त उदास है
सुनसान है।

विरल सरि का चिर अनावृत गात—
जो किसी के नयन के अभिराम जादू के परस से
हो उठा है लाल
ऐसा गात—
किस अनागत की प्रतीक्षा मे खुला है ?
दो किनारे व्यथित व्याकुल
बाहु-बन्धन मे किसी को बांधने को
नित्य आकुल
व्यर्थ ही तो है
युगो से इस अनावृत मुग्ध यौवन का
उपेक्षित देह का आह्वान
छवि का गान।
वक्ष पर फैली सुनहली अलस मन अभिराम सिकता
तन बिछाये
चिर समर्पित जो छिपाये
युगो से चुपचाप—रिक्ता।
अस्त होते अरुण रवि का स्नेह-वैभव
इस चरम अवसान के पल मे
बिखेरा चाहता है

विश्व पर
अपनी प्रभा का दान
इसी से प्रत्येक पल
मानो किसी अतिरेक का हो घनीभूत स्वरूप
पलक मे बुझ जायगा ऐसे प्रकम्पित दीप के
स्नेहिल हृदय का रूप।
थकी किरणो का जगत् को प्रीति का उपहार—
मन की कालिमा को
प्यार से धो डालने का चिरन्तन व्यापार
जो कि पल भर मे अभी हो जायगा नि
हो उठा है इसी से
अपनी क्षणिकता मे मधुर छविमान।

दूर जीवन के थपेडो से परे
सूने गगन मे आँख फाडे
कल्पना प्रिय युवक कवि-सी सहज निष्प्रभ
खडी है वैभवविहीन पहाडियाँ
इस विभा के मधुर पल मे भी नही है
इन अकेल शैलखण्डो के हृदय मे स्नेह-कम्पन
प्राण का सचार
वे खडे हैं अचल चिर-अविकार।
वह विचित्र कुरूपता उन की
विभा के पार्श्व म
है हो उठी कुछ और भी वीभत्स,
खूब तन कर यो अकेले खडे रहने का
असगत दर्प
उच्चता का गर्व
अपनी पूर्णता का भान
ओछा अकिंचन अभिमान
लगता है निरर्थक।

इस ऊँचाई का नही है
भूमि के रसमय प्रणय मे योग
इसलिए
हलकी प्रलम्बित मौन छायाएँ गिराता
छिप गया सूरज कही पर दूर
और थक कर चूर
दिन सोने लगा है साँझ की गहरी उदासी मे ।

शुजालपुर
१९४२

तीन बजे शाम

तीन बजे शाम,
वाहर की धूल भरी हवा
उस कमरे के द्वारो पर पडे
हलके नीले-से परदो को उडा-उडा देती है,
हिलते उन परदो के किनारे से झाँक कर
थोडा-सा प्रकाश
उस धूमिल-से कमरे मे क्षण भर को घुसता है
और फिर तत्क्षण ही लौटता है
वाहर की चिलचिलाती धूप के साथ मिल जाने को।

कमरे मे अन्दर
उस किंचित् प्रकाश मे
प्रेमी ने देखा उदास मुख प्रेयसि का
और उसे अपने सुदृढ बाहु-बन्धन मे
वाँध लिया,
कहा फिर कम्पित-से स्वर मे
'तुम तो आज जाओगी,
पर मेरा मुग्ध मन
क्या जाने किस व्यथा से भारी है,
टूटता है दिल—
कैसे इस असह्य वियोग को,
वोलो
मै सहन कर पाऊँगा ?'
और इन शब्दो के साथ-साथ
चुम्बन एक

लालसा से मानो भरपूर
अंकित कर दिया
निज प्रेयसि के अधरो पर।
किन्तु तभी मन मे
वह चिन्तित-सा सोचता था :
शाम को अपनी इस प्रेयसि के साथ-साथ
स्टेशन पर जाने से
व्यर्थ नष्ट होगा
मिस लीला के साथ—
कम से कम मिलने का—
इतने दिनो बाद आज प्राप्त हुआ
इच्छित एकान्त स्वर्ण-अवसर।

प्रेयसि ने उधर
डबडबायी-सी आँखो से
प्रेमी की बात सुन
उस की ओर देखा,
और फिर अपनी वे वल्लरी-सी बाँहे
तनिक कस दी
उस के गले मे और जोर से—
जैसे अब छूटना तो बिलकुल असम्भव हो।
किन्तु अन्तर मे तभी उस के
अनजाने ही
भावी नवीनता की
स्वप्नमयी आशा से
एक उत्साह था,
प्रफुल्लता भरी-सी चली आती थी,
जैसी किसी कडवी उकताहट से
छूटने का
मिल गया हो आज उसे
एकाएक अवसर।
तो भी वह ऊपर से

मानो झल्लायी-सी पड़ती थी
कि क्यों नही उसे कोई
जाने का,
प्रियतम से विछुड़ने का,
दुख है;
क्यो उस की आँखे डबडबा कर रह जाती हैं;
क्यों नही बह पड़ती
इस पल तो
अविरल-सी अश्रु धार।
और कहा उस ने तब प्रेमी से
यथाशक्ति स्वर मे
कुछ गहरी-सी करुणा उँडेल
'मिलन की तीव्र उत्कटता का मूल्य
सदा
विछुड़न की बेला के क्षणो मे ही
होता है अनुभव।'
सुन कर यह वात
फिर एक बार प्रेमी ने कस लिया
दृढता से उसे
निज बन्धन मे,
चूम लिये
उस के वे पतले-से होठ—।

बाहर से परदो के किनारो की आड से
थोडा-सा प्रकाश
कुछ झाँक कर देखता था,
और यह देख
कुछ हँसता, कुछ लज्जित हो
तत्क्षण ही
वापस लौट जाता था .।

शुजालपुर
१९४२

चलो, आगे चले

चलो, आगे चले ।
इसलिए नही कि जीवन का नियम ही चलना है,
इसलिए नही, मन मे गति का है मोह,
इसलिए नही कि इस क्षण की सवेदना से
भागने की लालसा है,
या कि है जीवन विपाक्त, असह्नीय
किसी तीव्रतम निराशा से,
या कि उकताहट है तुम से,
जगत से, सभी से ।
है नही आशा
इस मार्ग के छोर पर किसी से मिलने की,
प्राणो को किसी छविलोक मे रमने की,
नही दीखता है मुझे
मदिराकुल मीठे-से सपनो का इन्द्रजाल
दूर पर,
कही इस राह के मोड़ पर—
है नही कोई भी आन्तरिक ऐसा आवर्षण,
कोई ऐसा आदर्श,
तीव्रतम उत्कट-सी प्रेरणा ।
इसलिए नही
तनिक भी नही ।

किन्तु
तो भी कहता हूँ
चलो, आगे चले ।

क्योकि तुम मे है मेरे अस्तित्व का विरोध,
पा कर तुम्हारा सम्पर्क,
इस जीवन का नियम,
सघर्ष का,
सक्रिय हो उठता है।
तब एक तीखे-से द्वन्द्व की होती है सृष्टि
और यन्त्र चल उठता है—।
है नही कोई उद्देश्य इस गति का,
केवल एक परिणाम,
निश्चित-सी अन्तिम निष्पत्ति है :
मै और तुम
तुम और मैं इस द्वन्द्व मे होंगे समाप्त
उस मे चुक जायेगा हमारा समूचा व्यक्तित्व
प्राणो का सौरभ सब उस मे घुल जायेगा,
क्योकि हो जायेगा
तुम्हारे विरोध का प्रभाव नष्ट।
और तब उस मे से होगा निर्माण
एक नूतन अस्तित्व का
सर्जन एक नूतन-सी शक्ति का,
प्राणो का।
जो स्वय
किसी एक दूसरे विरोध के सहारे
फिर होगा गतिशील,
उन्मुख अदम्य नयी गति से।

इसीलिए कहता हूँ, आओ
साथ आओ,
आगे चले।

बरुआसागर
१९४२

व्यर्थ ।

मार्गदर्शक, बोल दो—
हो रही हैं पुतलियाँ धुँधली
अनवरत देखने के यत्न से
इस गहनता को चीर कर अपना विलम्बित लक्ष्य,
जो कि मानो व्यंग्य से,
उपहास से
निर्मम सरकता जा रहा है
दूर,
दूरतर,
अनुल्लघ्य अभेद तम मे से
अचानक कांपती आती
डरी, धीमी
किसी आवाज-सा ही
दूरतम...

किन्तु मै हारा नही हूँ,
फडफडाती है अभी बाँहे
कि अपने मार्ग के अवरोध सारे
तोड दूँ,
फेफडो मे रक्त बहता है अभी इतना
कि कस लूँ
उस बिखरती अथिर छलनामयी को
आश्लेष मे—
जो तोड दे व्यवधान
कर दे एक, एकमएक

दो इन दूर पर चलते सितारों को।

किन्तु पथदर्शक,
विवश मैं हार जाता हूँ भयंकर मौन से
बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से
सतत निर्वासित हृदय से।
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे नपुंसक गर्व ने
मन की अनावृत धार को
कर दिया है कुण्ठित—।
ज्यों सुलगते तप्त अंगारे
अभी कजला गये हों,
दब गये हों बुझी ठण्ढी राख से।
जल रहे हैं,
मात्र छूने से लगा दें
प्रज्वलित कर दें
अकल्पित ज्वालमालाएँ—
ऐसा दाह भी है;
है नहीं बस शक्ति ही सहयोग की,
सब तरफ़ फैले
विविध, नव-प्राणमय
गतिशील तत्त्वों से
किसी सम्बन्ध की,
कुछ स्वतःस्फूर्त सजीव विनिमय की—।

इसी से
ओ मार्गदर्शक,
आज मैं बस व्यर्थ हूँ
सुनसान में निर्जन खड़े ऊँचे महल-सा।

बरुआसागर—कलकत्ता मार्ग
१९४२

इस क्षण में

आज उचटा-सा हृदय,
सायरन वज जाय
उस के वाद
निर्जन शून्य सड़कों-सा
निभृत, निस्सग, खाली,
व्यर्थता की स्याह-सी वेमाप चादर से
अभी वस ढँक गया-सा
शून्य जी का प्रान्त।
हो गया है आज
इस क्षण मे
न जाने किस लिए उत्साह निर्वासित,
भयानक शीत के
हिम के
अचानक खुल गये है द्वार
कब-कब के रुके,
जो पड गया
फीका, विरस, निस्सार सब कुछ—
मरण, जीवन, अरुक हृत्कम्पन।
असम्वद्ध अनेक तागे-से
हृदय से निकल कर होते चले है,
निष्प्रयोजन ही,
किसी सुनसान-से मे लीन,
और केन्द्र-विहीन
मन
कुछ चकित है

कुछ थका-सा भी है
न पा कर इस विरसता की कही भी थाह,
इस अलक्षित अनमनी झकार का
अब कौन सा है हेतु
आखिर कौन-सी है राह ?

एक बस तुम ही
उदासी की अमा मे किरण रेखा-सी
कही से
दूर ही से घोल देती हो
विभा के रग,
ग्लानि की इस घटाटोप अभेद बदली मे
तुम्हारी याद ही बस
काँप उठती है चमक-सी।
हड्डियो को कँपकँपाती भेदती
इस शीत वेला मे
तुम्हारी याद,
प्रिय,
पत्तियो पर बस गयी हिम की सतह-सी
सरल, पावन और चिर-अविकार,
जिस अकल्पित दिव्यता की सुरभि से
सौन्दर्य से
मन का सभी व्यापार ही थम जाय
पल्क भी हो जाय स्थिर, निस्पन्द—
उस परम आनन्द सी,
निष्कलुष सौन्दर्य के आगे उमडती
विवशता-सी
पूर्ण, व्यापक, मधुर

इस तुम्हारे सुधि-परस से
ग्लानि, कडवाहट हृदय की

हो चली सब दूर,
खुल रहे हों बन्द वातायन
कि जैसे प्राण के इस वक्ष के।
आज हो प्रिय,
इसलिए,
बस आज पहली बार ही,
मैं पा गया हूँ तुम्हें पूरम्पूर,
चीन्ह पाया हूँ कि
इतनी दूर से,
इस अगम व्यवधान को भी चीर कर
आकुल तुम्हारे स्नेह के आलोक का
सस्पर्श
मेरे अनमने सन्तप्त प्राणों को
सदा भरता रहेगा
शारदीया चाँदनी के गीत के बेहोश स्वर-आरोह से
चैत की अम्लान पूनो की विभा से
रातरानी के नशे से,
सुरभि से।

दिल्ली
१९४२

शारदीया

शरद राका,
चांदनी के मधुर सौरभ से लदी
भारावनत
यह निशि
लता-सी मूर्च्छित, विजडित
युगो के सस्कार कहते हैं
कि यह सौन्दर्य ही बस
सत्य है,
और मन भी
इस विभा के गीत मे
सस्मित स्वरो के नशे मे
बस डूब जाना चाहता है।

किन्तु—
किन्तु कलकत्ते शहर की
टार की इन स्वच्छ सडको पर,
दर्प से छाती फुलाये मजिलो-ऊँचे घरों पर
दफ्तरो की महाकाय इमारतो पर
चाँदनी की यह रहस-सुषमा
अचानक लग उठी है
एक तीखे व्यग्य-सी कडवी, विपाक्त।
ब्लैक-आउट मे छिपी इस शहर की बीभत्सता
इस चाँदनी मे
हो उठी है और भी बीभत्स,
सभ्यता के आवरण से ढँके तन की ग्लानि

सारा कोढ
फूट उठता है अचानक।
आप चाहे या न चाहे
दीख पडते हैं पडे फुटपाथ पर
मैदान मे
सब ओर
चारो ओर सोये, लुढकते, गुडमुड हुए
ढाँचे
निरे बस हड्डियो के।
पास ही से देख कर यह जान पायेगे
कि ये भी आदमी थे
इन धडकते पजरो मे भी कभी था
प्राण का
रस-भरे उद्दाम जीवन का सहज सचार,
था इन्ही के सुदृढ कन्धो पर
शरद की चाँदनी मे डूबने वाले
जगत को पालने का भार—
सभ्यता का दम्भ इन के ही सहारे था।
आज वे
इस रजत राका मे
दिखाई पड रहे हैं अस्थियो के ढेर-से
निर्जीव, स्पन्दनहीन
कटे पेडो-से निराश्रित
व्यर्थ।
आज छायाएँ पिशाची घिर रही हैं
अर्धनग्ना नारियो की,
चल रहा है धान के दो-चार दानो के लिए
अब अस्मतो का खेल
भूख से व्याकुल तडपते बालको का
दीन के-न स्वर
बिना खाये
या कि खा कर रोग से

मरते हुए नर-नारियों की रुदन-सी चीत्कार—
सभ्यता के शाप-सी ही गूँज जाती है...

स्वार्थ के आगे बिखर कर बह गयी है
जिन्दगी की
सम्मिलित कर्तव्य की दुर्निवार,
आज सामाजिक विषमताएँ
उभर कर नग्न हैं,
विकराल मुख फाड़े खड़ी हैं
छीनने को इस अभागे देश को,
भूख से जर्जर अभागी जाति को।
रूढ़ि बढ़ती है,
युगों से हो गया है हृदय संज्ञाहीन
और मर्मविहीन
मन
बस देखता है दीन-सा, असहाय-सा...
आज भी,
इस परम संकट के समय भी,
नहीं आती परस्पर सहयोग की भी वृत्ति,
सोचता है व्यक्ति अपनी
मात्र अपने स्वार्थ की ही बात।
और इस सब ओर से आगे कदम रखता हुआ
सब को निगलने
नष्ट कर देने
बढ़ता आ रहा है
विकट भय का, दासता का, मरण का
दुर्दम्य तूफान।

उधर उड़ती आँधी के साथ
मन में बढ़ रहा है
दुख भय,

कुछ दानवी आतंक,
डरे पशु-सी
हो गयी हैं इन्द्रियां सन्त्रस्त उत्तेजित अचानक
आसमानी मौत के बस ध्यान से।
कौन जाने किस मिनट
नभ से बरसने लगेंगे
कुछ रक्तलोभी डाकुओं की कीर्ति के गोले।
सायरन की तीव्र रुक-रुक कर निकलती चीख—
दानवों के आगमन से
निस्सहाया बालिका के कण्ठ की
कातर करुण चीत्कार-सी—
और फिर निर्दोष जन-जन पर बरसते बम .

आज बिलकुल व्यर्थ है
ओ यामिनी
तेरे सुरूप सुहाग का शृंगार
हे निस्सार!

कलकत्ता
१९४३

[1]छब्बीस जनवरी

मुक्ति का दिन,
मुक्तिपथ की साधना का,
सजग भारतवर्ष की इस कोटि-कोटि अदम्य जनता के
सहज उत्साह का
निज भाग्य-निर्णय के लिए उत्सर्ग का त्योहार;
मुक्तिपथगामी शहीदो के स्मरण का पर्व
देश की सब जातियो की
एकता के सूत्र का प्रज्वलित स्मारक
यह हमारा गर्व ।

उड रहा झण्डा तिरगा वायु मे
भर एक आश्वासन,
छिपा है प्रत्येक कम्पन मे कि जिस के
देश के सघर्ष का,
पददलित इन जातियो की कामना, विश्वास का
गौरव भरा इतिहास ।
हो रहा है व्याप्त नभ मे
इस पताका से प्रकम्पित
निकल कर
एक स्वर
निष्कम्प, दृढ करता हुआ यह घोषणा
हम हैं सदा अविजेय
आततायी के दमन निर्मम

१. आजादी की लडाई के फासिस्ट विरोधी दौर में जनवरी १९४४ में लिखी गयी ।

घृणित विध्वस
नर-सहार की ही है सदा से हार
है सौ बार,
हैं कदम मजबूत
अब भी बढ रहा है गरजता
जय विजय पथ पर उमडता
इस देश के लाखो मजूरो का
करोडो ही किसानो का अतुल विक्षुब्ध पारावार
अब नही है लौटती खाली
हमारी मुक्ति की हुकार।
आज प्रतिध्वनि मे
उधर से गूँज उठता है
गरज कर बढ रही विद्युत्त्वरा से
दस्युदल-बल को कुचलती
लाल सेना का विजय का वज्र जयजयकार,
वह उधर से आ रहा है
चीन की,
पोलैंड, यूगोस्लाविया की
दलित जनता की विजय का स्वर
कठिन दुर्दम्य
नभ को चीरता इस पार
अब इस बार

आततायी आज विचलित हैं
उखडते जा रहे हैं पैर
उन के,
विश्व की सम्मिलित जनता के
कठोर प्रहार से
भयभीत है
है त्रस्त,
जागरण का यह नवोत्थित रुद्र भैरवनाद सुन के।

जागरण के इस कठिन सग्राम मे
हम भी
सभी के साथ
आगे बढ चलगे
करगे निर्माण एक स्वतन्त्र दुनिया
मुक्त भारतवर्ष
इसलिए हैं हुए प्रतिश्रुत आज हम दुर्धर्ष ।

हम बुनगे आज से
सब जातियो की एकता के सूत्र
तोड कर अपने कवच एकान्तता के
सम्मिलित हो,
स्वार्थ से,
निष्क्रिय परामुख दासता की वृत्ति से,
निश्चिन्तता से,
हम करगे युद्ध
हो कर क्रुद्ध ।

आज फूटे
आत्मविश्वासी करोडो कण्ठ से
ये ही तुमुल ध्वनि
यही ध्वनि हर बार
हम कटिबद्ध हैं तैयार
देंगे अर्घ्य अपने शीश
मुक्ति का त्योहार है यह जनवरी छब्बीस ।

बांकुडा
१९४४

अविवेक

फिर वही इतने युगो के बाद
एक सम्मोहनमयी-सी याद
जग उठी है किस लिए अभिराम
वासना के ज्वार-सी उद्दाम
आज प्राणो के जलधि के तीर
चचला लहरे घिरी गम्भीर
एक आकुल तीव्र अन्तर्दाह
कौन-सी ऐसी अजानी चाह
वेग से अविराम बारम्बार
धमनियो में रक्त का सचार
घुट उठा दम श्वास का अवरोध
हो रहा कम चेतना का बोध

रातरानी की नशीली गन्ध
प्राण चचल हो रहे मधु-अन्ध
किस सुधा की प्यास छबि का प्यार
आज फिर जी मे हुआ साकार
किस लिए इतने युगो के बाद
मोह की भर सुरभि-आकुल याद
बज उठा है फिर वही सगीत
आज क्यो ओ सजल मन के मीत
एक दिन जब तोड़ रेशम जाल
खोल कर उद्‌भ्रान्त मन के पाल
चल पड़ा था लालसा को भूल
प्यार के आह्वान के प्रतिकूल

उसी पल मे मैं गया था जान
सब तुम्हारे स्नेह का वरदान
मिली थी जो शक्ति एक अदम्य
जलधि की विक्षुब्धता-सी रम्य
गहन के विस्तार-सी बेमाप
भर गयी थी हृदय मे चुपचाप

एक वह क्षण और यह क्षण एक
जग उठा विक्षिप्त-सा अविवेक

ांकुडा
१९४४

प्राणों की आलोक-किरण

तुम बुझो न मेरे प्राणा की आलोक किरण
तुम रुको न इस क्षण मेरे अन्तर की धड़कन
विश्वास गिरा जाता है गिरता जाता है
पर थम न जायँ बढते बढते ये विद्ध चरण।

ढह रही युगो की दीवार मन मे मेरे
विध्वस्त खँडहरो की छाया फिरती घेरे
बेसुरे पराजय की प्रतिध्वनि से सारे स्वर
है काट रहे आधारहीन अन्धे फेरे।

शका की नागिन बैठी है कुण्डली मार
फुफकार रही है अपना विषधर फन पसार
वन्दिनी इडा है देख रहो सन्त्रस्त विवश
उठती है किस आदम की तीखी-सी गुहार।

यह द्रोह असह होता जाता है पल पल का
रह गया दिशा का ज्ञान शेष हलका हलका
ढलका है मन पर अँधियारा सागर अथाह
अब तुम न मुझ छोडो ओ प्राणो की अलका।

हैं चरण विंधे पर गति तो अब भी है बाकी
विश्वास डिगा पर बची चेतना ममता की
मैं बढा चलूँगा बस आश्वास तुम्हारा हो
छबि से भर कर अपना यह अन्तर एकाकी।

बरुआसागर
१९४५

चैत की साँझ

चैत की यह साँझ फीके पड रहे हैं रग
है तुम्हारी याद घिर आयी तिमिर के सग
ज्यो तडपते स्वर असयत लालसा से चूर
बुझ रहे हो, मन्द होते जा रहे हो दूर
ढल गया है वह उफनती कामना का ज्वार
सो गया है आज जैसे वह मचलता प्यार
अब नही घिरता तिमिर के साथ वह उन्माद
अब नही विक्षिप्त कर देती तुम्हारी याद
पचमी के चांद का मीठा अलस आलोक
बुन रही किरन तिमिर का मुग्ध छाया-लोक
किन्तु सागर मौन लहर हो गयी हैं शान्त
थम गया है गीत हाहाकार का उद्भ्रान्त
इसलिए शका कही से जागती अनजान
चुक गया क्या सब तुम्हारे स्नेह का वरदान
मिट गये मन के गहन से सब तुम्हारे अक
हो गये हैं प्राण क्या रसहीन ऐसे रक
पर नही यह धारणा है व्यर्थ सी निस्सार
आज भी जी मे सुरक्षित है तुम्हारा प्यार
धुल गया है वासना का वह क्षणिक आवेश
तीव्र अन्तर्दाह का अब है नही कुछ लेश
लालसा के उन तडपते स्वरो की झकार

प्राण के संगीत मे मिल खो गयी अविकार
बन गयी है वह हृदय की धड़कनों की मीड़
है सहज मुखरित उसी से मुग्ध मन का नीड़।

आज प्रिय, हो आज भी तुम धड़कनो के पास
हो तुम्ही मेरे सुदृढ हर चरण का विश्वास।

बरुआसागर
१९४५

वज्र यह कैसा

वज्र यह कैसा
अचानक चीर प्राणो के गगन को भर गया
प्रज्वलित तीखी तडप से।
तीक्ष्ण जलती प्रभा का
दुर्दम्य कोई तीर-सा छूटा कही से
चचला शत-शत पलक भर कौध
काँपी,
और फिर बस छा गया
दुर्भेद्य सीमाहीन तम-विस्तार
थोथे रिक्त मन पर—
खुल गये मन के पटल कितने
न जाने कौन-से स्तर।

कौन यह जागा भयकर दस्यु निर्मम
वासना का प्रखर तीखा तीर ले कर
लूटने
मन का सुरक्षित कोप अक्षय
प्राण की निधि,
भ्रष्ट करने, लाछिता करने
हृदय की मौन पावनता
अबोधा बालिका-सी सरल यौवन की,
समर्पित प्रियतमा के
छबि-विसुध निश्शक चिर विश्वास-सी
सम्पूर्ण, सुन्दर, भव्य . ?
उर्वशी यह कौन जागी ?

लिये कर मे हलाहल
निर्दाप नीलम-सा भयकर और सुन्दर,
नयन मे लिप्सा अकुण्ठित
असह तृष्णा की चमक,
अनिवार आकर्षण
सलोना, गरलमय ?
कौन आ कर मथ गया सागर अभागा ?
कौन जागा ?

जिन्दगी के पोत को क्यो खीचते हैं
सैकडो चुम्बक
अतल की ओर
नीचे,
गहनतर, घनघोर तम मे ?
काटती चक्कर जहाँ
बीभत्स छाया-मूर्तियाँ कुत्सित,
तिमिर मे लिपटी हुई
अस्पष्ट-सी, धुँधली
अधूरे स्वप्न-सी अधखुली,
विस्मृत, पूर्व-परिचित ।
द्रोह का हँसता शिखण्डी
नग्न प्रतिहिसा-बुझे ले तीर कर मे
भीरु, कायर,
है कहाँ विद्रोह का गाण्डीव
ओ अर्जुन,
तुम्हारी क्रुद्ध प्रत्यचा अचानक शान्त क्यो है—?

मै अतल की ओर
खिचता जा रहा हूँ,
मोह से पग-पग फिसलता,
डूबता, गिरता,

फिसलता, डूबता,
सुन रहा हूँ स्तब्ध मै भयभीत कातर
तिमिर मे लिपटी हुई
बीभत्स छायामूर्तियो का अट्टहास
कुरूप, कुत्सित—
वज्र कोई भर गया मानो
अचानक चीर प्राणो के गगन को
प्रज्वलित तीखी तडप से।

डूब कर मै घिर गया हूँ विवश;
चारो ओर है
गम्भीर सागर के हृदय का अन्धकार अपार,
है खडी मानो अनेको अगम अन्धी वज्र-सी दीवार
घुस रहा है तिमिर का पानी विषैला क्षार,
इन्द्रियाँ सन्त्रस्त
पल-पल हो रही निस्पन्द जड ।

एक ही बस
क्षीण दुर्बल चेतना आधार-सी बाकी बची है,
एक ही—
इस अगम दीवार के ऊपर सतह पर
शान्ति है
फैला हुआ है मुक्त चारो ओर
सीमाहीन नीलाकाश
जिस मे फूटती है मुक्ति की अम्लान निर्मल धूप
तोड कर कारा तिमिर की,
है जहाँ जीवन-उषा का मुक्त उज्ज्वल हास,
है जहाँ विकसित, सहज उत्फुल्ल
सौरभ-मुग्ध पाटल-सा
लजीली, स्नेह रजित प्राण-वधुका का सलोना रूप।

बरुआसागर
१९४५

दशमी का चाँद

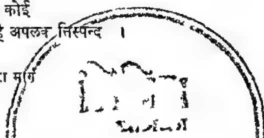
देखता हूँ दशमी का पीला-सा चाँद
थायसिस की रोगिणी के सुन्दर थके मुख-सा
निस्तेज—
और प्राणो के झुरमुट मे
होता है खेल
आलोक का तिमिर का।
विस्मृति का फैला है परदा सफेद
जिस पर उभरता है चित्र
अस्पष्ट
एक लैण्डस्केप बेमानी
रेल की खिडकी के आगे से
भागते खम्भो-सा अस्थिर ।

दूर पार्श्वभूमि मे वे
डबडबायी आँखो-सी तैरती
पहाडियो की छायाएँ धुँधली,
पल भर मे पास आ चुभती है
मानो प्रदीप्त वासना के शिखर हो उन्नत उत्तुग
किसी तरुणी कुमारी के कसे हुए
अक्षत उरोजो-से तने हुए उद्धत ।
फैला है आगे मैदान
दूर-दूर चली आती है
तागो-सी उलझी अनगिनती पगडण्डियाँ
जहाँ-तहाँ बिखरे है उजडे-से पेड

बदसूरत और भोडे
एक-दो धब्बे हरियाली के झांकते है
डरते शरमाते-से
जीवन के मरु मे ।
लगती है हर चीज
सूखी-सी
फूटे हुए ब्लैडर-सी पिचकी निस्सार
निष्प्रयोजन
फाडती है मुख एक भीषण जुगुप्सा
कही भीतर
किसी गहरे अथाह मे ।

देखता हूँ दशमी का पीला-सा चाद
कही भागता
दीखता नही है मुझ
उस म किसी का मुख खिलता उत्फुल्ल
किसो मुग्ध भावना की मधु-आभा से दीप्त
लगता है यक्ष्मा से पीडित
निस्तेज मुख कोई
मुझ घूरता है अपलक निस्पन्द ।

बरुआसागर—आगरा मार्ग
१९४५



पत्र

पाया पत्र तुम्हारा,
आज न जाने कितने दिन के बाद
अचानक गूँज उठी है
आश्वासन की प्रतिध्वनि से प्राणो की कारा।
अपने ही अन्तर की प्राचीरो का बन्दी
घुटते-घुटते
और पा गया
आशा की आलोक-किरण का एक सहारा।

ओ सहयोगी
मेरे अन्तर की कटुता के
जीवन के विष-से तीखे कड़वे अनुभव के
तीव्र यन्त्रणा को घुट-घुट कर सहने वाले
अन्तराल की मूक व्यथा के
आज हमारे अन्तर की भाषा मे होगी
व्यापकता दोनो जीवन की
दोनो मन की
एक अजाने मगल क्षण के सन्धिकाल मे
हुआ अलक्षित सगम
मुड कर एक हो गयी
मौन अकेले चलते-चलते ये दोनो जीवन की धारा
बन्धु, आज जब पाया मैं ने पत्र तुम्हारा।

जीवन तो जीना है, लडना है

अपने से
रुकने के
रुककर सपनो मे ही खो जाने के सपने से
थोथे आदर्शो से
मानव को आधीन बनाने की
सुन्दर परिभाषाओ से
झूठी आशाओ से ।
जीवन तो रचना है
तीखी लिप्सा के उन्मत्त ध्वस से उन्मूलित
निर्वासित
छवि के एकायन की
प्राणो मे उठने वाली अतिरेकमयी ममता के
क्षण की
मन की ।

हम तुम भी होगे सहयोगी
इस जीने म
लडने म
प्राणो की पीडा प्रसूत सक्षम रचना मे ।
इस से क्या कि हमारे जीवन की
ऐसी है राह भिन्न
अनुभूति अलग है
अपना-अपना सस्कारो का सचय है स्वाधीन
व्यक्तिगत
इस से क्या
दोनो के मन के छन्द
अनूठे है
मौलिक है अपने-अपने है
क्योकि, बन्धु
इस विभेद के हिम की भारी तह के नीचे
जीवन की अन्त सलिला है

प्रवहमान पावन....।

पत्र तुम्हारा पाया, प्रिय,
गूँथ गये हो मानो मन को मन से
कोमल धागे कच्चे अक्षर ...
जाग उठे कैसे स्वर
प्राणों की वशी मे सुप्त अटकते-से चंचलतर।
पत्तो पर बूँदो की टपटप-से
कोमल आघात
प्रकम्पित कर जाते हैं मन के खिचते-से तारो को
मीठी थपकी-सा हलका आलोडन
भर उठता है आश्वासन का
प्राणो की काली कारा मे।

बरुआसागर
१९४५

जाने क्यों

जाने क्यों, प्रिय,
जी भर कर बातें हो न सकीं
बढ़ गया दर्द इतना ये आँखें रो न सकीं
बहुतेरा ही दुलराया-बहलाया मन को
पर जगी हुई काली छायाएँ सो न सकीं ।

बनारस
१९४५

परिभाषा

निस्तब्ध समर्पित मन की अभिलाषा क्या है ?
बन्दी के अन्तर मे रोती आशा क्या है ?
अनगिनती तागे उलझे हैं जाने कब से
इस उलझन की क्या जाने परिभाषा क्या है ?

बनारस
१९४५

जब अर्थहीन चंचलता से

जब अर्थहीन चंचलता से उत्तेजित मन,
थक जाता है
लम्बी उदास छायाओं से ढँक जाता है
हो जाता है फीका-फीका
जैसे सूरज उगने के पहले आसमान
जब दूर कहीं से भूल
पूरबी के स्वर ऐसे घिर आते हैं
भटक गये हों ज्यों संझा के पंछी
तब लगता है
आदर्शों की मोटी सख्त तहों के नीचे
बहती है धारा—
अविवेक असंयम की
अतृप्ति के उत्तप्त पिघलते लावे की
जिस की प्रतिध्वनि से गुंजित है
अस्थिर है जीवन की कारा—।

उस क्षण में तो
निष्ठा के झीने बादल सारे त्रस्त
हवा में घुल कर सब खो जाते हैं
सब अनायास टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं...।

बम्बई
१९४५

चट्टानें

मैं जूझ रहा चट्टानो से अपने मन की
पड रही अनवरत चोटें जीवन के घन की
हो उठे प्राण उद्दीप्त एक अभिलाषा से
है चाह न मुझ को आज किसी आश्वासन की।

अहमदाबाद
१९४५

चाँदनी रात

चाँदनी रात है—
किसी अबोध कुमारी के सरल नैनो-सी
अथाह भेद भरी गीली
अलस वसन्त की अनुराग भरी गोद
खुली फैली है
मौन सुधियो के राजहस दूर-दूर उडे जाते है

चादनी रात का सुनसान
है फीका-फीका
गन्ध के भार से सन्त्रस्त-सी वातास
है उन्मत्त काटती चक्कर
रुद्ध पथभ्रष्ट और विक्षिप्त
वासना-सी अतृप्त
कही पे दूर कभी रुक रुक कर
किसी के प्यार भरे गीत के टूटे-से स्वर
भूल से जाग कर
मानो तभी सा जाते है ।

चाँदनी रात है चुपचाप समर्पित
मोहित
अचल दिगन्त के आश्लेष मे
सोयी
खोयी अबूझ स्वप्न मे,
जैसे तुम ही कभी

चुपचाप अनायास
मेरी गोद मे सो ज
चांदनी रात ओ।

वरुआसागर
१९४६

फिर घिरे बादल

फिर घिरे सहसा गगन मे आज बादल हैं
बरस पड़ने को असयत प्राण चंचल हैं
युगो के उत्ताप से जो धरा थी सूखी
नये जीवन के सरस अभिषेक की भूखी
फिर मची हलचल हृदय मे उसी धरती के
खुल गये सब बन्द जितने द्वार थे जी के
सैकडो अकुर पलक मे फूट निकलेगे
रुद्ध जीवन-शक्ति को उन्मुक्त कर देगे
धुलेगा जल एक नव-उन्मेष के जल से
प्राण जागेंगे नये विश्वास के बल से
कवि, करोगे क्या न इस उन्मेष का वन्दन
नये शुभ उल्लास से अभिभूत अभिनन्दन
चाहिए वह कण्ठ जिस से नये स्वर फूटें
छन्द जिन से शत युगो की शृखला टूटे
बुद्धि वह जो हो न निज प्राचीर की बन्दी
भावना ऐसी न जो आवेश से अन्धी
टूट कर कुण्ठा पुरानी नया स्वर जागे
कवि, तुम्ही युग-मार्गदर्शक बन चलो आगे।

आज तुम हो मौन छायालोक मे खोये
हैं तुम्हारे कण्ठ के सब गान भी सोये
रिस चली पल-पल अथिर विश्वास की गगरी
चिर तमिस्रा बन चली आलोक की नगरी
हो रहे धुँधले तुम्हारे स्वप्न के अक्षर
बज रहे हैं ध्वस के अति विषम तीखे स्वर

नीद नही आती है

आज फिर नीद नही आती है ।
आज फिर किस लिए बुझते हुए दिल की धडकन
इस तरह तेज हुई जाती है ?
आज क्यो नीद नही आती है ?

घर मे एकान्त है छिपा बैठा
है हवा चीख रही दूर कही दूर
शून्य वेला है—।
कौन-सी पुतलियाँ चुपचाप
अपरिचित-परिचित
तैरती पख पसारे वेरोक
मन के इस ताल मे ?
ये निरुद्देश्य ही आती हैं चली जाती है
किसी उजाड की प्रतिध्वनि-सी ।
और कुछ वात नही
कोई भी वात नही
पर मुझे नीद नही आती है।

कभी किवाड खडक उठते है अचानक ही,
गली मे भूँकता कभी कुत्ता
कभी जवान पडोसिन का काँपता-सा गला
मीठी थपकी-सा गूँज जाता है ।
मानो यह रात भी डरती हो
अकेलेपन से

सींचो है जिन्दगी की हरियाली,
नन्हे पौधो को,
नाज की मोती भरी बालो को,
नित नये प्यार से दुलराया है।
आज उस की ही जिन्दगी मे कोई प्यार नही,
वह अकेला है।
खेत छिन ही चुका,
अकाल मे मर गयी थी घरवाली
जेल मे बन्द हुआ बेटा जवान
क्योकि वह हक के लिए लडता था।
तेल मिलता ही नही
उस का घर अँधेरा है,
अब वह कडियाँ भी नही गिन सकता
अपनी छत की,
किन्तु जब रात को अँधियारे मे,
उजाड गाँव की कराह-सी आवाज
साँय-साँय गूँज जाती है
तो उसे नीद नही आती है।

मुझे भी नीद नही आती है,
मै हूँ बेचैन
हूँ उन्मत्त
ज्यो सागर कोई लहराता हो
तूफान सनसनाता हो।
कोई रह-रह के मेरे कान मे कहता है
फुसफुसाता है,
अब तो यह रात भी जल्दी ही निकल जायेगी
रात यह दुनिया की।
आज तो दुनिया की आँखो मे कोई नीद नही,
सब ही बेचैन हैं—
बेचैन एक आशा से—

कट न जायें डोरियाँ विश्वास की

कट न जाये डोरियाँ विश्वास की
उस तीर से
जो क्षणिक आवेश मे तुम तानते हो
दूर के उस लक्ष्य पर,
स्वप्न हो जाये न धुँधले
टिमटिमाते दीप बुझ जाये न सब सवेदना के
धार ले कर दमित स्वार्थी की
बहे जब द्वेष का अन्धड़।
जिन्दगी के दहकते अगार
दब जाये न ओछी दीनता की राख से।

वन्दिनी है मुक्ति के उल्लास की मृदु धूप
दान नभ का
गान किरणो का सुनहला
अगम सागर के हृदय का स्वच्छ फेनिल हास
सहज उदार—
सारे बिक चुके है।
दे रहा उद्धत चुनौती कृपण व्यवसायी
तुम्हे
ललकारता।

समय की उन्मादिनी उद्दाम गंगा के कगारे
टूटते झरतें निरन्तर—

कट न जाये डोरियाँ विश्वास की

कट न जाये डोरियाँ विश्वास की
उस तीर से
जो क्षणिक आवेश मे तुम तानते हो
दूर के उस लक्ष्य पर,
स्वप्न हो जाय न धुँधले
टिमटिमाते दीप बुझ जायें न सब सवेदना के
धार ले कर दमित स्वार्थों की
बहे जब द्वेष का अन्धड।
जिन्दगी के दहकते अगार
दब जाय न ओछी दीनता की राख से।

वन्दिनी है मुक्ति के उल्लास की मृदु धूप
दान नभ का
गान किरणों का सुनहला
अगम सागर के हृदय का स्वच्छ फेनिल हास
सहज उदार—
सारे बिक चुके हैं।
दे रहा उद्धत चुनौती कृपण व्यवसायी
तुम्हे
ललकारता।

समय की उन्मादिनी उद्दाम गगा के कगारे
टूटते झरते निरन्तर—

शिखर

ओ शिखर,
तुम महत हो।
बादलो की गहन घन गम्भीरता से
भर गया अन्तर,
किरन-पुजो का सरस सस्पर्श मृदुतर
ऊर्ध्वगामी पवन की उन्मुक्तता के सहज सहचर
महत हो तुम
हे शिखर।

चढ तुम्हारे शीश पर बौने कुटिल
निज तुच्छता बिसरा
अहम के शाप से पथभ्रष्ट ओछे
चीखते है
उछलते है दम्भ से।

हे उदार,
दूर सागर के अगम विस्तार की अभ्यस्त
ये आँखे तुम्हारी
चरणतल की क्षुद्रता पर
चकित विस्मित है
नही हैं रोष के
विद्वेष के डोरे कही उन मे
न छाया घृणा की।

निर्झर

अपने जीवन मे आकुलता लिये
हमे है बढते जाना
युगो-युगो तक
चिर जाग्रत है इन प्राणो मे
बहने का उत्साह निरन्तर—
बहने का बहते रहने का।
व्यर्थ हमे थमना क्या भाये ?
प्राण समाये
क्या बन्धन मे ?
कब से मन मे
बजती है उन्माद रागिनी—
और स्वरो की मदिरा पी कर हम मतवाले
बढते जाते
चढते जाते विकास के उत्तुग शिखर पर,
किस विराट मे अपने को विलीन कर देने ?
गति ही जीवन
गति ही है उद्देश्य हमारा
गति ही है अस्तित्व हमारा
हम गति ही हैं।

हम विद्रोही प्राणो की है एक सतह
सब जगह
न कोई भेद-भाव ऊँचे-नीचे का
स्वार्थजन्य गँदलापन

या दुर्गन्ध
सड़े ठहरे पानी की।
टकराते पत्थर आपस मे टकराते हैं
फिर भी चलते हैं
आगे चलते रहते हैं
रेत सलोने तन की पिस कर बिछ जायेगी
जीवन तल मे
धरा उर्वरा हो जायेगी
अनजानी संघर्षमयी ममता के पल मे
नवयुग के अंकुर कण-कण मे
फूट पड़ेंगे
भर जायेगा सृजन-राग से अम्बर
सागर कांप उठेगा
नूतन आशा के स्पन्दन से—।

हम सर्जन की इसी उमड़ती आशा के इतिहास
मुक्ति की गाथा के आलोकित अक्षर
स्वर प्रज्वलित
स्नेह-विह्वल कोयल के।
हम न रुकेंगे
रवि का सब आलोक भले ही चुक जाये
पर हम न चुकेंगे....।

ाहाबाद
९४८

वह शान्ति

तुम नही दोगी मुझे वह शान्ति
जो मै खोजता हूँ।
भावना के धवल शुभ अक्षत चढा
अभिमान की आहुति बना
अस्तित्व के दीपक जला
जो वर विनत हो माँगता हूँ
मूर्ति मेरी,
तुम नही दोगी मुझे।
वन्दिनी हो तुम स्वय
अपनी परिधि की
छू जिसे नव-ज्योति के आवर्त
आहत
लौट आते है निरन्तर।

तुम प्रतिष्ठित हो
पुरानी प्राण की अन्धी गुहा मे
हैं जहाँ सस्कार जालो-से लटकते
काल की रूखी जड
विक्षिप्त हो फैली जहाँ।
गुहा जिस मे स्नेह की रसधार बरसी ही नही
प्लावन न हो पाया प्रणय का
नही चमकी बिजलियाँ अनुभूति की
बोध के आलोक की नव-नवल किरण भी
न बिखरी चरण-तल मे।

वह गयी इतिहास की वन्या
अदम्या
कर गया कम्पित हृदय झकझोरता
युग-धर्म का अन्धड़
उबलता
दूर तुम से दूर
तुम निर्वासिता हो
मूर्ति,
अपनी गुहा मे
अवरुद्ध अपनी कन्दरा मे.... ।

आज मेरी अर्चना
तुम झेल पाओगी नही
सहन अब होगी न
तीखी ज्योति मेरी आरती की
तुम न धारण कर सकोगी
फूल मेरी कामना के
वासना के ।

कण्ठ मे तेरे
न अब वाणी बची आशीष की
आश्वास की
ओ मूर्ति
तू अब खण्डिता है....
तू मुझे क्या दे सकेगी
शान्ति
जो मैं प्राण की आहुति
चढा कर
खोजता हूँ . ।

इलाहाबाद
१९४८

सुनसान

भारी सुनसान को लाचार लपेटे कम के
आज बांहे किसी सपने मे मौन डूबी हैं
होंठ रह जाते हैं बेचैन तड़प कर यों ही
उन पे गाने वो कोई गीत भी बाकी न रहा
अधखुले रूप की जलती हुई दो नोकें-सी
जी मे रह-रह के लगातार चुभी जाती हैं
दिल के राही को आज राह का कुछ होश नही
एक निर्जन मे वियावान मे सोया-सा है
सुधियाँ उडते हुए पतझर के विवश पत्तो-सी
मन के आकाश मे झरती ही चली जाती हैं. ।

रूप की इस अजब रात मे अब चांद निकल आया है
आज मन को किसी आश्वास भरी गोद मे सो जाने दो।

इलाहाबाद
१९४८

कहो मत कि तुम स्वप्न ही हो
बुझी बीतती रैन का
याद आता नही जो
तिमिर-गर्भ मे डूब कर खो गया हो
अनोखा अपरिचित कहीं
किन्तु जो भर गया हो
पलक के गगन को
नये बादलो से
तड़पते किसी गीत के-से स्वरों से
सँझा हृदय की बियाबान
फिर जल उठी हो अनायास
रंगों की लपटों से अनजान .
जैसे सघन बाँस के वन
अकारण
सुलग उठते हैं नित
रगड़ अपनी खा कर
हृदय की जलन से....

कहो मत कि तुम स्वप्न ही हो
अचेतन
जिसे खोजता-खोजता मैं स्वयं
खो गया हूँ
सुलगते हुए बाँस के जंगलों मे
मृगी प्राण की
घिर गयी है अकेली

सुरभिमत्त हो
किस तृषा से व्यथित
किस व्यथा से तृपित
जो भटकती रही जो भटकती रही ...

मत कहो
जिस धरा को
तरुण रूप का नील आकाश
अपनी भुजाओ मे बाँधे
लपेटे हुए है
समेटे हुए है
सजल कामना के भरे मेघ
जिस के शिखर छू रहे हैं
धरा वह
वही भूमि मरुभूमि है
बाँझ है
तरुण रूप का नील आकाश वह
है नपुसक
भरे मेघ वे रिक्त हैं
झूठ है—
मत कहो स्वप्न ही है ...

ओ स्वप्न
ओ देवता स्वप्न के
छल करो मत
अभय दो कि मैं मुक्त हूँ
सत्य हूँ।

इलाहाबाद
१९४८

सागर-क्षण

स्नेह-मदिर संझा में
सागर का तट कुछ आवेग भरा था
काँप रहा था
जल से घिरे शैल-खण्डों पर
सस्मित तुम बैठी थीं
नभ के चंचल रंग निहार रही थीं
लाल, बैंगनी, फीके, उजले
दूर कहीं पश्चिम में
सूरज डूब रहा था
जल्दी-जल्दी अपने जादू को समेटता
उधर क्षितिज पर पाल उड़ाती जातीं
नन्हीं नावों को
छवि में लपेटता
वे उदास किरनें लहरों से
आँखमिचौनी खेल रही थीं
जैसे लहरें तुम से
तुम मेरे अन्तर से....

उस दिन ही तो अनायास
तुम दोस्तों पहले-पहले मानों
और भरे चितवन में कौतूहल अछोर
तुम झांक उठी थी
नयनों के वातायन से, प्रिय,
तन्मय मेरे अन्तरतम में।

उन किशोर छवि-किरनों का
वह उस दिन
मानो प्रथम परस था—
या अन्तिम था ?—
जब उन्मत तरंगों का-सा
मन मे हाहाकार नही था
उस क्षण तो ये प्राण
बह गये थे बेबस
उस रूप-जलधि की लहर-लहर में
वह अजस्र कम्पन ही मानो
मेरे भीतर समा गया था....
वह जीवन मे पहला दर्शन था
दो उत्सुक प्राणों का
आसमान से लहरों का
वह प्रथम मिलन
संयोग प्रथम था
जैसे उस विस्तृत दिगन्त की बाँहों मे
वह साँझ
अमर आश्लेषबद्ध थी....

कलियां फूट रही थीं उस क्षण
नभ में
मेरे अन्तर मे भी
श्याम शैलखण्डों से टकराती लहरों का
रव कानों मे
धरती अम्बर के प्राणों में
गूँज रहा था
वह कैसी अभिनव पुकार थी
आत्मदान की
संसृति के गोपन रहस्य की
वह कैसा मोहक दुलार था

उन लहरों का
रूप-जलधि की सम्मोहन-संकुल लहरों का

जीवन के उस शुभ मुहूर्त में
मंगल क्षण मे
लहरों के कम्पित दुलार
आतुर पुकार का
सब रहस्य
मैं जान गया था
उस क्षण से ही मैं
उन की ममता के आगे नत हूँ
उन का आभारी हूँ....।

इलाहाबाद
१९४८

मानस के कवि से

काल के मरुस्थल मे
एक दिन
फूट पडी निर्झर-सी अमृत-धार
व्यथासिक्त प्राणो के रस की।
धरती का अन्तर
मधुर करुणा से भीज गया
फूटे नये अकुर नये जीवन की कल्पना के
झर पड़ी वाणी की किरणे
एक युग के तिमिर मे।
कवि एक जागा
ज्योति-पुंज
ले कर सवेदनाएँ नयी
नये कल्पना के चित्र
जीवन-रचना के नये स्वप्न।
देखा था उस ने
समग्रता को
पिरोया था
विच्छिन्न सब जीवन के तत्त्वो को
एक नये सूत्र मे।
युग के विशृंखल विषम स्वरों से
जीवन की पूर्णता का
सम्मिलित अखण्ड सगीत
महागान
हुआ ध्वनित-प्रतिध्वनित।

कवि
तुम ने मानव के सुख-दुख का
हास का, रुदन का
रचाया इतिहास
युग की सब आशा-आकांक्षाएँ
मुखर थी तुम्हारे उन छन्दों मे।
कितने युग
चेतना के नूतन निर्माण-परिष्कार के लिए
हैं तुम्हारे ही कृतज्ञ
चिर आभारी।

जीवन के वे सब दृश्य आज नहीं रहे
बदल गये संस्कृति के
समाज के मानदण्ड
पड़ गये पुराने निस्सार
वे विचार
हो गये खोखले वे सारे आदर्श
वे सारी मर्यादाएँ
सीमाएँ
बन गयी जन-जन की बेड़ियाँ
धर्म और नीति के वे संस्कार
आज बने दासता के रावण के अस्त्र
पराजय की लंका के प्रहरी।

किन्तु कवि
आज भी अमर है तुम्हारा यह
भावना की किरणों का आलोक
आज भी
तुम्हारी अमित करुणा का सागर अछोर
काँपता है पावन सुरम्यता से
जीवन के स्पन्दन से।
जन-मन के सुख-दुख के

तुम्हारे उन चित्रों के रंग
आज भी हैं वैसे ही अम्लान
वैसे ही ज्वलन्त।
तुम्हारी वे मानस-किशोरियाँ
अखण्डयौवना हैं
हैं वैसी ही ममतामयी
शान्तिमयी।

जब तक आषाढ के गगन में
घनघमण्ड गरजेंगे
डरपेगा प्रियाहीन मन किसी प्रीतम का
जब तक कोई लाजवती
ककन के नग की परछांही मे
चुपके से
निहारेगी साजन का रूप
जब तक किसी के अनुराग भरे बैन
अटपटे
करते रहेंगे किन्ही प्राणों को
करुणा से विगलित अभिसिक्त—
तुम तब तक तुलसी
सदा विहरोगे
मेरे
जन-जन के मन-मन्दिर मे।

ओ साधक
है आज भी वैसे ही पीडित
और दुखी
नर-नारी सब।
विकल है अयोध्या जगत की
फिर राम बनवासी हैं—

अगणित ये राम
ये जन-जन।
धरती की सीता है हरी हुई वन्दिनी
कुटिल राक्षसों की स्वर्ण-लंका में।
किन्तु ये राम दुर्निवार
फिर आज भी बढ़ते हैं
लांघते हैं सागर अँधेरे के
कुटिलता के।
वन्दिनी सीता फिर होगी स्वाधीन
होगा शुभ मिलन फिर एक बार
प्रभु फिर लौटेंगे अवध को
होगा प्रतादिन असंख्य जन-जन का
फिर राज्य-अभिषेक
फिर होगा जयगान...।

कवि
फिर तुम्हारे रथचक्र की लीकों पर
चल कर ही
होगा निर्माण
नये युग के नये मानस का।

लखनऊ
१९४८

पलायन

तुम अपने से भाग रहे हो
अपने मन की छायाओं से खेल रहे हो आँखमिचौनी।

रची तुम्ही ने थी
अपने अन्तर की सडको पर अनजाने
बैरीकेड
टेढी-मेढी प्राचीर
जिन से—
तुम सोच रहे थे—
रोक सकोगे हमलावर को
अपने मन के
तुम अपने को मान रहे थे रक्षित
थे निश्चिन्त बेखबर।
आज फँसे हो तुम
अपने ही रचे हुए दुर्गम व्यूहो मे
टेढे-मेढे गलियारो मे
प्राचीरो की भूलभुलैया मे उलझे हो
इसी लिए तुम अपने मन की छायाओ से भाग रहे हो।

पर क्या सचमुच भाग सकोगे ?
बिना लडे क्या तोड सकोगे
चक्रव्यूह यह
ये प्राचीर ?

आज जूझना ही होगा
चाहे-अनचाहे,
प्राण हथेली पर रख कर
सब पिछला कर्ज चुकाना होगा
जीवन की अन्धी गलियो के भीतर हो कर
अपना मार्ग बनाना होगा
जाना होगा . ।

इन गलियो के पार उमडता है
जीवन का दरिया
अपने कूल तोडता
अपनी गति की नयी-पुरानी सीमाओ के
बांध फोडता
युग-युग के सस्कारो के खँडहर ढाता
रेगिस्तानो के सूखे रेतीले दिल मे
नये प्यार का ज्वार बहाता
रूप भरी हरियाली लाता।
इस दरिया मे तुम अपने को बह जाने दो
भर जाने दो अपने मन मे
इस उभार को
नये बौर के इस सौरभ से
अपने दिल की अमराई को बस जाने दो ।

व्यर्थ तुम्हारी बैरीकेडे
प्राचीरे सब टेढी-मेढी
चक्रव्यूह है धोखा कोरा
मन के सारे बाँध तुम्हारे
रोक रहे हैं तुम्हे
स्वय
अपने जीवन से ।

अब मत सोचो
आत्मसमर्पण कर दो,
पल मे
हो जायेगी मुक्ति तुम्हारी ।

इलाहाबाद
१९४९

बादल

तुम बादल हो
सरल स्नेह-सी उमड़
एक दिन मेरे अन्तर की धरती पर
मधुर जल भरे
घिर आयी थीं
एक नयी आशा से
धरती पुलक उठी थी
फूट उठे थे अंकुर अनगिनती अनजाने।
और सत्य ही तुम ने
तब से
प्राणों का मधु बरसा कर
सींच दिया है कण-कण आकुल उत्सुक।
इस पावन प्लावन से, प्रिय,
नद-नदी भर गये
छलक उठे हों जैसे प्याले
धुली-धुली हरियाली
विह्वल उमग उठी
डालें लहरायीं
नये-नये गीतों के स्वर हो गये मुखर
नित गूँज-गूँज कर।

तुम बादल हो
अपने प्लावन से
मेरे अन्तर की जड़ता बहा ले गयीं
कटुता की नीरस मिट्टी के ढूह

गल गये
हरे हो गये सूखे डण्ठल।
जुते हुए खेतो-सा मन
अब प्रस्तुत है
जीवन की नित-नित नवीन
सुकुमार कोपलो मे
अपना अस्तित्व सँजोने
सार्थक हो जाने को प्रति पल।
दान तुम्हारा
मेरे अन्तर की सीपी मे मोती होगा
नये स्वर्ग के फूल खिलेंगे
नयी कल्पना के शिखरो पर।

ओ बादल,
मै ने इन प्राणो के प्रसार पर
आर-पार तक
ओढ लिया है स्नेह-सिक्त आवरण तुम्हारा
और मूँद कर नयन
स्वप्न मे हो विभोर
मै देख रहा हूँ
ऊँचे-नीचे शिखरो पर
मेरे अन्तर के
जीवन-सन्ध्या मे पा कर सस्पर्श तुम्हारा
कितनी सुन्दर किरणो के
सातों रगो के चचल शिशु
नाच उठेगे
थिरक-थिरक कर
नयी सृष्टि के अग्रदूत-से।

लखनऊ-इलाहाबाद मार्ग
१९५१

मोरा कहीं बोला

मोरा कहीं बोला
तड़प कर
कहीं दूर
चम्पा बाग में
बदरिया झुक आयी
उमड़-घुमड़
घिरी घनघोर
जिया डोला ..
मोरा कहीं बोला।

बिजली कहीं चमकी
काली बदली के बीच
जैसे कोई चीर गयी याद की कटार
पल भर को
उमगा किसी का मन भोला
मोरा बोला।

रिमझिम रिमझिम बरसै मेहा
झरै दिन-रात
छोह भरी तरसै सुहागन
अकेली
हिया कांपै
भरी बरसात

भरे सब रीते तालाब
छलक उठा नेहा
पुरवा के झोंके से
सिहर के
नयी दुलहिन ने
चुपके से अपने हिये का भेद खोला....
मोरा कहीं बोला।

लखनऊ-इलाहाबाद मार्ग
१९५१

हम न सुनेंगे गीत तुम्हारे

हम न सुनेंगे
आज तुम्हारे गीत
घृणा के नये-पुराने ठेकेदारो,
गीत तुम्हारे हम न सुनेंगे।

हम तुम को पहचान चुके हैं
ओ जल्लादो!
ऊपर से तुम लाख पहन लो
दीन-धरम के लम्बे चोगे
धुले दूध-से गोरे चिट्टे
ले लो चाहे जितनी मोटी हाथ सुमिरनी
पर हम ने तो देख लिया है
रूप तुम्हारा
इस उजली चादर के नीचे
दाग खून के
छिप न सकगे
ढक न सकेंगे पाप तुम्हारे
चल न सकेगा और अधिक पाखण्ड तुम्हारा।

क्षुद्र स्वार्थ के लालच मे तुम ने
अपने को बेच दिया है
क्रूर आततायी,
तुम तिल-तिल तोड रहे हो

मानव-मन की युग-युग से सचित
पूजित प्रतिमाएँ सारी
कला-सभ्यता की
सस्कृति की।
तुम ने मजहब डुबो दिया है
गरम रक्त की वैतरिणी मे
और अभी तक
प्यास तुम्हारी बुझी नही है—
तुम्हे और नरमेध चाहिए
तुम्हे अभी तो युद्ध चाहिए।

साक्षी है इतिहास
सदा से
जब-जब मानव मुक्ति-युद्ध के लिए
एक हो
शस्त्र उठाता
अत्याचारी का दुनिया से नाम मिटाने
एक साथ जब भी जन-जन बढते हैं आगे
समता का ससार बनाने
जब-जब भी आजादी के अविजेय सिपाही
कदम बढाते
पराधीन करने वालो का रक्षित दुर्ग तोडने को
प्राणो की होड लगाते—
तभी-तभी तुम भय से हो विक्षिप्त
चलाते अपना अन्तिम अस्त्र
रचाते व्यूह फूट के।

पर ओ दम्भी!
इस का भी साक्षी है यह इतिहास
न रुक सकती है सेना

आजादी की—
सेना जो निकली है
दुख से कातर जन को धीर बँधाने
स्वार्थ-विषमताहीन
कल्पना की दुनिया धरती पर लाने
समता और प्रगति के सपने सत्य बनाने।
यह आजादी की सेना ही
निहित स्वार्थ के गढ़ को चकनाचूर करेगी
भेद-भाव को दूर करेगी
रक्खेगी यह नींव शान्ति की
नये मानवी सम्बन्धों की
अटल नये भाईचारे की।

आज तुम्हारे गीत
घृणा के ठेकेदारो,
हम न सुनेंगे
अब हम अपनी क्षमता को पहचान गये हैं
अब हम आगे बढ़ कर
खुद अपने हाथों
अपना भविष्य निर्माण करेंगे।

इलाहाबाद
१९५२

आज शायद

आज शायद मै अलभ एकान्त अपना पा गया हूँ
राजपथ से भटक फिर परिचित डगर पर आ गया हूँ
लुट गये जाने कहाँ रससिक्त वे सपने सुवह के
मुट्ठियो मे रह गये है वन्द अव अगार दहके
ओस की बूँद नही अव प्यार की चम्पाकली पर
छुट गयी है रूप की वह चाँदनी पथ म कही पर
रिक्त है सूखी नही पर नेह की अधभरी गगरी
साँझ मे मुँदते कमल-सी अधखुली है प्राण-नगरी
क्या वही आहट इसी से प्राण की गहराइयो मे
गन्ध का उन्माद ज्यो वौरी हुई अमराइयो में
चैत की यह साँझ घूँघट खोलती है लाजवन्ती
डाल-डाल पलाश फिर सुलगा गये ज्वाला वसन्ती
छू गयी है उँगलियाँ सुकुमार किरनो की गगन को
कौन-सी मायाविनी पहचानती है इस लगन को
एक पल बस और फिर खुल जायेगा वह भेद सारा
काँपती लहर अगम या तिमिर मे डूवा किनारा।

रीवाँ इलाहाबाद माग
१९५४

बेसुरा

जिन्दगी की बेसुरी इस बाँसुरी से
कौन-से स्वर
कौन-सा सगीत निकलेगा
कहो,
किस अछूते हृदय के
भोले उमगते गीत गूँजेंगे ?
उँगलियाँ जकडी हुई-सी हैं
अहेतुक प्राणघाती तिक्तता से
छुट गया है सहज स्वरसन्धान
हो गया है राग विस्मृत—
और रीता मन
बुझा-सा
छू न पाता है
नये आलोक की वह कोर
रस-डूबी, सुनहली...
जिन्दगी की बाँसुरी मे
अब नही है
वह उमडती तडप पहली ।

अजब है मन
जो बुझा है और रीता है
मगर बेचैन है
जो रुद्ध जल के घुमडते आवर्त-सा
टकरा स्वय से
काटता दिन-रात चक्कर

क्रुद्ध आहत सर्प-सा फुफकारता
अभिशप्त अपनी ही तृषा से
असह विष से।
खोज है वह कौन-सी
बोलो,
अभी किस रक्तमणि को ?
है प्रतीक्षा
कहो
किस उन्मेष के उल्लास मे डूबे हुए
अनमोल क्षण की ?
स्नेह की मगल घडी की ?

क्या तडप कर बज सकेगी
फिर कभी भी
बेसुरी यह बांसुरी इस जिन्दगी की ?

रानीखेत
१९५४

सुनो, चीड़ के पेड़

सुनो,
चीड के सनसनाते हुए पेड,
मेरी कहानी सुनोगे ?

यहाँ तुम खडे हो
गगन मे तने सिर उठाये हुए
गर्व से
गहराइयाँ झाँकते-से अतल की
उधर सामने चोटियाँ हैं
शिखर
जो घिरे वर्फ से
जो वादलो का हृदय चीर खुलते कली-से
अछूते अचुम्बित—
शिखर जो अडिग हैं अगम हैं महत हैं
मनुज के अमिट स्वप्न-से
लालसा-से।
शिखर ये तुम्हारे सखा हैं युगों के
पहली सुवह की किरन
मुसकरा कर
सदा छेड जाती इन्हे भी तुम्हे भी।

ओ चीड के पेड
तुम आज मेरी कहानी सुनोगे ?
तुम्हे भी विकल जिन्दगी की
कथा सव

सुना दूँ
कि मैं लांघना चाहता था अगम को
तड़प थी कि बौने करो को बढा कर
पकड़ लूँ अभी चाँद-सूरज
कि मैं चाहता था सभी कुछ
बहुत-से बड़े स्वप्न थे
इस हृदय मे
नही थी
नही, शक्ति ही बस नही थी
उठे बाहुओ मे
तड़प थी बहुत किन्तु क्षमता नही थी।
इसी से गरुड के सभी पख
टूटे हुए हैं
विगत स्नेह की स्निग्ध हरियालियाँ
आज झुलसी हुई हैं
खण्डिता मूर्तियाँ हैं
ओ चीड़ के पेड,
मैं हूँ मरुस्थल
मैदान जलता हुआ-सा
पडा जो शिखर के चरण से बहुत दूर
जलता-सुलगता

अभी रात भी सामने घाटियो मे
अकेली पडी
गिन रही तारिकाएँ
चुपचुप अँधेरा बिछा है
उतरती हुई मौन पगडण्डियो पर।
तुम्ही बस
किसी याद मे जग रहे हो
मुखर हो
सागर गरजता किसी बेकली का
तुम्हारे हृदय मे।

इसी से अभी चाहता था सुनाना
तुम्हें मैं
ओ चीड़ के पेड़
मरुभूमि की यह सुलगती कहानी—
सुनोगे ?

रानीखेत
१९५४

मै सागर हूँ

मै सागर हूँ
जिस की सौ-सौ गर्वीली उत्ताल तरगे
तट से टकराते ही
कैसी नरम फेन-सी झर जाती हैं
अनगिनती टुकडो मे बँट कर
मिट कर
अलग बिखर जाती हैं
पर तो भी जो
कँकरीले सूखे तट को
आप्लावित कर के
नयी आर्द्रता
नयी गन्ध, सोधी सुवास से भर जाती है।

सागर जीवन है
अछोर बेचैन तडपता
लहर लहर बनने को
आत्मसमर्पण को
मिटने को तत्पर
तट है धरती सयम सीमा
आघातो को झेल
समो कर भीतर
चिर अभिसिक्त डूबती रस मे।

वह भी क्षण था
जब जीवन केवल सागर था

जब मैं था निस्संग अपूर्ण अधूरा
गरम उबलता लावा जब नभ से टकरा कर
जल बनता था
तभी न जाने किस मंगल क्षण में
रीता वह
दिशाहीन अवकाश भेद कर
तुम झाँकी थी
मानो कोई नयी स्वर-लहर
काँप गयी हो गहन विजन में।
वह पहला दर्शन ही तो संयोग प्रथम था
सागर का तट से
जीवन का धरती से
बेचैन तड़पते प्राणों का छविपुंज देह से।

तब से अब तक लगातार तुम
भरे हुए हो मुझ को
अपने गहन अंक में
तुम ने बाँध लिया है
मेरे उद्वेलित अविराम धड़कते अन्तर को
अपनी फैली उत्सुक बाँहों में
सीमाहीन किनारों की चंचल सीमा में घेर
मुझे सार्थकता दी है...

इसी लिए, ओ धरती,
तुम धरती हो
मैं हूँ सागर
जिस की गर्वीली उत्ताल तरंगें
तुम से टकराते ही
उज्ज्वल नरम फेन-सी झर जाती हैं।

दिल्ली
१९५५

अजाना अतिथि

ओ अपरिचित देश के पन्थी
डरो मत इन क्षणो से
इस अनिश्चित लग्न मे
प्लावित किनारो की व्यथा से
सहज मन से करो अगीकार
यह अयाचित दान प्राणो के जलधि का
अमृत का विष का ..

मरण-जीवन के चरम सीमान्त का
यह लघु मुहूर्त
अपूर्व है
पावन प्रणय-सा।
अतिथि है
व्यथा के नव-लोक का पाहुन तुम्हारा,
वढो स्वागत मे उमड कर चूम लो यह भाल
क्षत-विक्षत युगो का
विगत सपनो का .

वात मानो
अजाना है अतिथि फिर भी है वही
खोज मे जिस की चले थे तुम सवेरे
राह मे जिस की गिराया है नयन-जल
है विखेरा गीत-कुसुमो का
सलज परिमल अकुण्ठित .

यही है वह देश
पन्थी
जहाँ सपने तीर सी पैनी प्रबल संवेदना से
विकल आहत हो
अचानक सत्य होते हैं
डरो मत
करो अंगीकार
घायल स्वप्न के अपने अतिथि को।

दिल्ली
१९५८

कभी-कभी

कभी-कभी
पीपल के पत्तो पर सिहरती
पचमी की चाँदनी
ठिठक
असमजस मे विजडित हो
पल भर निहारती है
मानो किन्ही अधकहे
शब्दो की नोक ने
धीमे से छू कर
केवल कुरेदा हो सतह को।
तो भी न जाने क्यो लगता है
मन के कगारो को तोड़ती
अबन्ध्य वन-धारा वह आयी है
अजस्र अन्तहीन
मन किसी रसवन्ती नदी की घाटी-सा
सजल परिपूर्ण हो उठता है . .

और फिर कभी-कभी
पूनो की जुन्हाई भी
चाहे प्रगल्भा रस-कन्या-सी उमडती हो
भृकुटि-विलास से तन झकझोरती
लालसा के बाणो से बेधती—
तो भी मन खोया रह जाता है
छायाहीन ठूँठ-सा असग
जलते पठार-सा प्यासा अभिशप्त

अर्पण-निवेदन के हलो से जुती हुई
धरती भी
लगती है वंचिता वन्ध्या

क्योंकि तुम—
सुनो मैं तुम्ही से कहता हूँ—
चांदनी
कभी तुम मन का सम्मोहन हो
कभी तुम्ही कुण्ठा हो।

दिल्ली
१९५८

आरम्भ

दीर्घ उत्ताप की संज्ञाहीन कुण्ठा के बाद ही
अचानक अनपेक्षित
यह पहली फुहार रसमयी—
जैसे किसी प्रीति की
स्पन्दनहीन कड़ी निष्प्राण-सी मिट्टी
तनिक भीग गयी
रुँधे हुए तन-मन के रन्ध्र-रन्ध्र खुले
मुक्ति की उसाँस-सी सोंधी सुवास
भर गयी निर्बन्ध
कैसे अपरिचित-से सुख के नये अंकुर
कुनमुनाये
कहीं झुलसी हुई धरती के
अँधेरे अन्तराल मे
मीठे अनोखे सस्पर्श से रोम-रोम काँपा
विस्मृत अभिव्यक्ति की पुकार
अनजाने ही जाग कर फूट पड़ी
व्यथासिक्त चीख-सी अचरज भरी।

सुनो
यह अभी से ऐसी विह्वलता
ऐसी बेकली
अभी तो यह पहली फुहार है
पहला हिलकोरा है
प्रीति की शीतल बयार का।

सुनो
सच
अभी मत इतना अकुलाओ
यह तो अभी केवल आरम्भ है
कब से अभीप्सित
उस कन्या की
पावन प्रतीक्षा का नव मंगल-क्षण है।

दिल्ली
१९५९

मुक्ति है कटार

माना कि मुक्ति है कटार
अनासक्त
जो बेधती है अपना ही हृदय
जो अपने ही भीतर तक चुभती है
मुक्ति की पीड़ा है तीव्र असहनीय
जो विलग कर देती है
परायो से अपनो से
रच-रच कर सँजोये हुए सपनो से

माना कि एक दिन उसी की चाह मे
तुम ने सब सरबस लुटाया था
बार-बार रुधिर से भरी थी माँग
बस उसी के वरण को
प्रीति मे उस की ही
सूली की सेज स्वीकारी थी
आज तक जिस के आघात से
तन-मन तुम्हारा
अवसन्न है
आहत क्षत-विक्षत है।

आज तुम कातर हो भय से
विक्षुब्ध हो
कुण्ठित हो अपनी पराजय से
फिर भी बेचैन हो,
किसी अनजानी तड़प से

अपरिचित-सी लालसा से अस्थिर हो
विवश हो ..

सुनो
तुम आँख मत मूँदो
अपने ही प्राणो के जलते उस सत्य से
भागो मत
आज भी बेकल हो तुम
उसी प्रीति से
कवच यह तुम्हारा सब झूठा है
शान्ति-सन्तोष सब आड है दिखावा है
मिथ्या हैं तुम्हारे सब माया-मन्त्र
और सब प्यार भी छल है बहलावा है।

बोलो
यो डर कर अपरिचित से
अनजाने चमचमाते ठीकरे सजाने से क्या होगा ?
रीते आश्वासन की थपकी से
मन के चपल शिशुओ को
सुलाने से क्या होगा ?
खिलते हुए कमलो की गन्ध को
ढँकने-दबाने से क्या होगा ?

सत्य से भागो मत
मुक्ति सचमुच ही कटार है
पैनी दुधारी अनासक्त
जो पल भर मे प्राणो के पटल चीर देगी ही
और कर देगी उजागर
जो

मुक्ति है कटार

माना कि मुक्ति है कटार
अनासक्त
जो बेधती है अपना ही हृदय
जो अपने ही भीतर तक चुभती है
मुक्ति की पीडा है तीव्र असहनीय
जो विलग कर देती है
परायो से अपनो से
रच-रच कर सँजोये हुए सपनो से

माना कि एक दिन उसी की चाह मे
तुम ने सब सरवस लुटाया था
बार-बार रुधिर से भरी थी माँग
बस उसी के वरण को
प्रीति मे उस की ही
सूली की सेज स्वीकारी थी
आज तक जिस के आघात से
तन-मन तुम्हारा
अवसन्न है
आहत क्षत-विक्षत है।

आज तुम कातर हो भय से
विक्षुब्ध हो
कुण्ठित हो अपनी पराजय से
फिर भी बेचैन हो,
किसी अनजानी तडप से

अपरिचित-सी लालसा से अस्थिर हो
विवश हो...

सुनो
तुम आँख मत मूँदो
अपने ही प्राणों के जलते उस सत्य से
भागो मत
आज भी बेकल हो तुम
उसी प्रीति से
कवच यह तुम्हारा सब झूठा है
शान्ति-सन्तोष सब आड़ है दिखावा है
मिथ्या हैं तुम्हारे सब माया-मन्त्र
और सब प्यार भी छल है बहलावा है।

बोलो
यों डर कर अपरिचित से
अनजाने चमचमाते ठीकरे सजाने से क्या होगा ?
रीते आश्वासन की थपकी से
मन के चपल शिशुओं को
सुलाने से क्या होगा ?
खिलते हुए कमलों की गन्ध को
ढँकने-दबाने से क्या होगा ?

सत्य से भागो मत
मुक्ति सचमुच ही कटार है
पैनी दुधारी अनासक्त
जो पल भर मे प्राणो के पटल चीर देगी ही
और कर देगी उजागर
जो

तुम्हारे ही जीवन का मर्म है
प्यार है तुम्हारा
जो तुम्ही हो

नगी इस कटार से डरो मत
तुम्ही स्वयं तुम्ही तो मुक्ति हो।

दिल्ली
१९५९

सहसा यह क्या

सहसा यह मन मे क्या किरन-सी उतर गयी
मोहिनी किसी मायालोक की बिखर गयी
पल भर—बस केवल एक क्षण के उन्मेष मे
कैसी अपरिचित उत्कण्ठा-सी भर गयी

सपनो को किसी ने अचानक सँजो दिया
मन के जुही फूलो को सहज ही पिरो दिया
रोम-रोम जाग उठा आकुल प्रतीक्षा मे
प्राणो को विवश व्यथा मे समो दिया

मन का यह भाव क्षणभगुर हो छल हो
प्रीति की पीडा तो सत्य हे पावन है
मोह का जादू चाहे जितना भी चचल हो
समर्पण की कालातीत मुक्ति तो चिरन्तन है।

दिल्ली
१९५९

पँचमढ़ी की एक शाम

दूर ऊँची पहाडी पर
ठोडी टिकाये बैठी वह शाम
कितनी मासूम थी
खोयी-सी सूनी उदास बडी-बडी आँखो से झांकती
अचानक मुझ से कहने लगी
'इतनी दूर से क्यो ?
पास आ कर बैठो न।
कुछ बात करो
न सही बहुत देर
पल भर ही—
मुझे ही कौन बहुत फुरसत है।
जानते नही
और सब लोग आगे गये
मैं ही अकेली पीछे अटकी खडी रही
न जाने क्यो।
शायद कुछ भूल गयी हूँ
फैली हुई घाटियो की
हरी मखमली चादर की परतो मे
तनी खडी या ढलती हुई पहाडियो के
सदियो पुराने पत्थरो मे
झूमते पेडो की फुनगियो मे
लम्बी सीधी लकीर जैसे झरने के
रपहले गोटे मे—
अवश्य कही
कुछ छुट गया उलझ गया होगा

यह लगता है।
पल भर उसे खोजूँ—
पर नही
रुकने का समय कहाँ ?
अवकाश ही नही है
जल्दी है—
यहाँ सब को सदा जल्दी पड़ी रहती है।
ओह !
यह लो
पीछे से किरनो की रस्सियाँ खिचने लगी
कठिन है रुकना अब
सच
सुनो, कितने बेदर्द है लोग।
चाहे जो छूटे रह जाये टूट जाये
रुक कर सम्हालने-समेटने की
आज्ञा नही है
ठहरना मना है
हँस कर पल भर बतियाना भी
नियम के विरुद्ध है—
बड़े बेदर्द है ये लोग।
ओफ, चलो, चलो,
चलती तो हूँ !'

यही कहती-कहती
वह भोली मासूम शाम
अपनी रगबिरगी चूनर समेटती
और अपने सलोने रूप का जादू बिखेरती
बेबस
पहाड़ियो के पीछे उतर कर चली गयी।

पँचमढ़ी
१९६२

एकान्त

कितने दिनो बाद आज फिर जब
तुम से सामना हुआ
उस भीड मे अकस्मात
जहाँ इस की कोई आशका न थी
तो मैं कैसा अचकचा गया
रँगे हाथ पकडे गये चोर की भाँति।
तुरत अपनी घोर अकृतज्ञता का
भान हुआ
लज्जा से मस्तक झुक गया अपने-आप।

याद पडा तुम ने ही दिया था
वह बोध
जो प्यार से उलझे हुए धागो को
धीरज और ममता से सँवारता है
दी थी वह करुणा
जिस के सहारे
आत्मीयो के असह्य आघात सहे जाते हैं
सह्य हो जाते हैं
और वह अकुण्ठित विश्वास
कि जीवन मे केवल प्रवचना ही नही है
अन्तर की अकिंचनता से प्रतिद्विन
सहयोगियो की कुटिलता ही नही है
किसी क्षणिक सिद्धि के दम्भ में
दिगर की छाती कुचलने को उद्यत
बौनो का अहकार ही नही है—

तुम्हारी ही दी हुई थी
वह अनन्य अनुभूति
कि वर्षा की पहली बौछार से
सिरचढी धूल के दबते ही
खुली निखरने वाली
आकाश की शान्तिदायिनी अगाध नीलिमा
वर्षों बाद अचानक
अकारण ही मिला
किसी की अम्लान मित्रता का सन्देश
दूर रह कर भी साथ-साथ एक ही दिशा मे
चलते हुए सहकर्मियो का आश्वासन—
ये सब भी तो जीवन मे हैं
तुम ने कहा था।

यह सब
न जाने और क्या-क्या
मुझे याद आया
और एक अपूर्व शान्ति से
परिपूर्ण हो गया मै
जब आज
अचानक ही भीड मे
इतने दिनो बाद
तुम से यो सामना हो गया
ओ मेरे एकान्त!

पँचमढ़ी
१९६२

ओस

सवेरे
पत्तियों पर सोयी हुई बूँदें सुहावनी
धूप के चढ़ने के साथ
सूख जाती हैं
फिर भी शायद
उन की वह भीगी हुई छाप
पत्तियों से पूरी तरह मिटती नही।
दिन भर धूप मे तप कर
झुलस कर
वे रात को फिर उन्ही बूँदो के लिए
तत्पर हो
ललक कर बिछ जाती हैं।
जैसे मेरे छोटे-बड़े अनगिनती संकल्प
मन की नयी पत्तियो पर
ओस की बूँदों से ढलकते है
दिन चढ़ते ही सूख जाते है
और रात होते-होते
फिर मन उसी सम्मोहन मे बँधा
अगले दिन के
वैसे ही अधूरे टूटे कभी न पूरे होने वाले
अनगिनती संकल्पों को सँजोने
ललक कर तैयार होता है।
क्योंकि अभी पत्तियाँ
सूख कर झरी नही हैं
अभी तक मन वीरान बियावान नही हुआ है

सूखे कँटीले झाड़-झंखाड़ो से भरा नही है
अभी तक
कोमल
सुकुमार नयी पत्तियो पर
हर सवेरे
छोटे-बड़े सकल्पो की
सुहावनी ओस
अम्लान मोतियो-सी बिखरी रहती है।

बड़ौदा–दिल्ली मार्ग
१९६२

जो हम नही है

हम वही है जो हम नही है ।
भाव जो कभी मूर्त न हुए
शब्द जो कभी कहे नही गये
जीने की व्यथा मे डूबे हुए स्वर
जो ध्वनित नही हो पाये
राग नही बने
जीवन के अचीन्हे सीमान्त के
चरम क्षण
होने न होने के
अपनी अनन्तता मे ठहरे रहे
निरन्तर अपनी अतीन्द्रिय सम्पूर्णता मे
जीते रहे
पर बीते नही भोगे नही गये....

आकार-रूप-हीन आघात
जो बस सहे ही गये
अनजाने-अनचाहे
आँखो की कोरो मे
उमडे हुए आँसू-से अनदीखे
अटके ही रहे झरे नही
वही हैं हम
जो नही हैं ।

दिल्ली
१९६३

प्रस्तुत

आओ
अब कोई भय नही
असमंजस नही।
दीपमाला लगी तैयार है
आरती का थाल सज चुका
है बडी धूमधाम अब
तुम्हारे प्रतीक्षित आगमन की
अब तो
तुम्हारी अजन्मी सुन्दरता ही
हमारे आकाक्षाओ के प्यालों मे
भरी है छलछल
तुम्हारी अपरिचित पावनता
वन्दनवारों-सी बँधी है हमारे द्वार-द्वार
तुम्हारी अपरिमित उदारता की
लगी है गली-गली हाट जगमगाती हुई।

विश्वास करो
हम ने सारा विवेक
कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान
नयी लाल मिट्टी-सा
तुम्हारे पथ मे बिछाया है
रंग-बिरगी झण्डियाँ लटकाने को
सपने ऐंठ कर रस्सियाँ बट ली हैं
करुणा के घटो को बन्द कर
हम ने उन पर

नारियल ढँक दिये है
तुम्हारे मार्ग मे
मगल चिह्नो के रूप मे रखने के लिए
हम ने पहचान लिया है
आज की आस्थाएँ तुच्छ हैं
इसी लिए हम ने अपने ही पैरो से
उन की छायाओ के वक्षस्थल
कुचल कर
अपने अदम्य उत्साह के आघात
उस पर अकित कर दिये हैं

अब और कोई कमी नही
विश्वास करो
अब और कोई सशय नही
कोई डर नही
किसी दुविधा का द्वन्द्व का ।

आओ
हम आज अपने अस्तित्व को मिटा कर
सर्वथा विसर्जित कर
तुम्हारे ही एकान्त स्वागत मे
पूरी तरह प्रस्तुत हैं
तत्पर हैं ।

दिल्ली
१९६३

हर निमिष वरण है

माना कि हर निमिष वरण है
जीवन-मरण की
अनन्त सम्भावनाओं के बीच।
कितनी असख्य स्थितियां हैं
मरने की
मरते-मरते अचानक ही जीते रह जाने की
पूरी उत्कटता से या कुछ-कुछ ही जीने की
अथवा विभिन्न आधे-आधे
जीवनों में से
कोई एक सहने की—
कितनी सम्भावनाएँ हैं।
सफलता-असफलता
अथवा ग्लानि और दीनता से सजी हुई सफलता
या प्रलोभन के आगे न झुकने की
शान्ति से कण्टकित असफलता—
किसी को तो चुनना ही पडेगा
क्योंकि
असमजस भी एक सम्भावना है वरण है।

इसी लिए वे लोग ही सुखी हैं
जो सहज चुन पाते हैं
जो जानते हैं
जीवन का सीमाहीन ताप
प्राणों का निरन्तर दाह
प्यार की अन्तहीन जलन नहीं

क्षणिक आलिंगन की शीतलता ही
प्रियतर है
अनन्यता समर्पण नहीं
तीखी उत्तेजना की चमक
चकाचौंध ही श्रेष्ठ है
सुविधा से समझौता ही अच्छा है।
अच्छा है सब कुछ स्वीकारना
कह सकना
'अनुगत हैं हम
अनुयायी हैं
आप जो कुछ भी कहें, करें
हमी उत्तरदायी हैं।'

दिल्ली
१९६३

वसन्त की दो कविताएँ

[१]

लगता है आखिरकार
वसन्त ने भी शिशिर के आगे
आत्मसमर्पण कर के
समझौता कर लिया है
जैसे कवियो ने नेताओ से।
तभी तो
पता नही लगता
वसन्त कब आया कब चलता बना
या आया ही नही।

निस्सन्देह
पत्ते अकारण ही झर कर
सड़को पर दालान मे भीतर तक बिखर गये है
मजरी की महक सहमी-सी कभी-कभी
कमरे मे घुस आती है
फीकी-फीकी मुरझायी-सी सरसो
या इक्का-दुक्का सकुचाये बुझे-बुझे-से पलाश
दीख जाते हैं।
पर हवा—
हवा कुछ दूसरी ही है
बहकी-बहकी
सुहानी नही
धूल के अन्धड-सी या बेहद बरफीली।

दृश्य वही हो
पर सवेदन भिन्न है
आस्वाद बदल गया है
मिलावटी घी की भाँति।

कितना सुन्दर लगता है प्रत्येक झूठ
कितनी आकर्षक है सवेदनहीनता
या मिथ्या सवेदन की आसानी का कवच—
हम सभी ने अपने-अपने शिशिर से
समझौता कर लिया है।

दिल्ली
१९६७

वसन्त ऐसा झूठा भविष्य है
जो आ कर भी कभी नहीं आता
संकल्प पत्तों की तरह झरते [illegible]
और खाली मन
नंगा ठूँठ जैसा खड़ा
अन्धड़ के थपेड़े सहता हुअ
फांकता रहता है
धूल धूल सिर्फ़ धूल...।

दिल्ली
१९६७